आलोचना कुसुमांजलि

लेखक

गुलाबराय एम. ए.

प्रकाशक

मेहरचंद लक्ष्मणदास
संस्कृत-हिन्दी-पुस्तक-विक्रेता
कूचा चे[redacted]खां,
फ़ैज़ बाज़ार रोड, दरियागंज,
दिल्ली

द्वितीयावृत्ति] १९४९ [मूल्य ४॥ रु०

※ विषय-सूची ※

मुद्रक—खज़ानचीराम जैन, मनोहर इलेक्ट्रिक प्रेस, कूचा चेलां, दिल्ली

भूमिका

इस पुस्तक में हिन्दी के ग्यारह प्रमुख कवियों की कृतियों का रसास्वादन कराने का प्रयत्न किया गया है। यथासम्भव मैंने इन आलोचनात्मक लेखों में यह ध्यान रखा है कि विद्यार्थी-गण कवियों की जीवन-मीमांसा, भाव-सुकुमारता और काव्य-कौशल—तीनों ही बातों से परिचित हो जायँ। कवियों के जीवन-वृत्त का मैंने उतना ही अंश देना पर्याप्त समझा है जितने से उनकी कविता पर व्याख्यात्मक प्रकाश पड़ सके। प्रत्येक कवि की आलोचना में, उसके समय की मूल-प्रवृत्तियों का भी उल्लेख हुआ है, और यथासम्भव उस कवि को अपने युग का प्रतिनिधि मान कर उन प्रवृत्तियों को उसकी कृतियों से उदाहरित भी किया गया है।

हम इस संग्रह में चन्द बरदाई और विद्यापति को नहीं ले सके हैं, इसका हमको खेद अवश्य है; किन्तु यह समझ कर कि उनकी भाषा की दुरूहता के कारण हमारे साधारण विद्यार्थी उनकी कविता की आलोचना में आनन्द न ले सकेंगे, हमने उनको छोड़ दिया है। और भी कुछ कवियों का हम स्थानाभाव के कारण उल्लेख नहीं कर सके हैं, किन्तु हमने यथासम्भव उनके सम्प्रदाय के प्रतिनिधि-कवि अवश्य ले लिये हैं।

चन्द बरदाई और विद्यापति को छोड़ देने के पश्चात् कबीर ने हिन्दी के प्रारम्भिक काल या मध्यकाल के प्रारम्भिक भाग का प्रतिनिधित्व किया है।

सूर, तुलसी और मीरां के द्वारा हमने भक्ति-काल की झांकी दिखलाई है। केशवदासजी ने भक्ति-काल और रीति-काल की संक्रांति का प्रतिनिधित्व किया है। रीति-काल के कवियों में हमने बिहारी और भूषण को लिया है। बिहारी में उस समय की शृङ्गारिक प्रवृत्ति का पूरा आभास है, और भूषण में रीतिग्रन्थ के लिखने की प्रवृत्ति के साथ वीर-काव्य की झलक भी है। भारतेन्दुजी अपने युग का स्वयं प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। द्विवेदी युग की प्रवृत्तियों का उदाहरण हमने उस समय के सब से सजग कलाकार मैथिलीशरण गुप्त से दिया है, और प्रसंगवश हमने उपाध्यायजी का भी उल्लेख कर दिया है। वर्तमान काव्य-धारा का अवगाहन हमने प्रसादजी द्वारा कराया है, और अन्तिम अध्याय में आधुनिक काल की प्रायः सभी प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन करा दिया है। उनके संक्षिप्त उदाहरण भी पन्त, निराला, महादेवी, नरेन्द्र आदि से दे दिये हैं।

प्रो० सत्येन्द्रजी के चार लेख इसमें संग्रहीत हैं। उन लेखों में भी वही दृष्टिकोण है, जो मेरे लेखों में है। सत्येन्द्रजी के सहयोग के लिए, मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। मुझे आशा है कि हिन्दी के विद्यार्थी इस संग्रह की संक्षिप्त आलोचनाओं के सहारे अपनी भाषा के प्रमुख कवियों के काव्य का रसास्वादन करने में समर्थ होंगे।

भाद्रपद शुक्ला एकादशी

संवत् २००३ आगरा। 　　　　　　　　　　गुलाबराय

१

सन्त-साहित्य के प्रवर्त्तक महात्मा कबीर

जन्म संवत्—महात्मा कबीर ऐसे समय में हुए जब अलौकिकता का प्राधान्य था। इनके नाम के साथ कुछ अलौकिक कथाएँ सम्बद्ध हैं। इन अलौकिक कथाओं में कितना सार है यह तो कहना कठिन है किन्तु थोड़ी बहुत जीवन-सम्बंधी सामग्री उनकी वाणी में भी मौजूद है और किम्वदन्तियों में थोड़ी बहुत तत्त्व की बातें मिल सकती हैं। इसके सम्बन्ध में उनके शिष्य धर्मदास की तथा अन्य सन्तों की भी उक्तियाँ मिलती हैं।

यद्यपि उनके जन्म-संवत् के विषय में पंडितों का मत-भेद है*

---

*कबीर पंथी लोग उनको अलौकिक महत्त्व प्रदान करते हुए इनकी ३०० वर्ष की आयु मानते हैं। उनके मत से इनका जन्म-संवत् १२०५ में और सत्य लोक-वास १५०५ में हुआ। इस मत से उनकी सिकन्दर लोदी के साथ इतिहास-प्रसिद्ध समकालीनता नहीं बैठती। 'कबीर एण्ड कबीर पंथ'

तथापि उनके सम्बन्ध में जो निम्नलिखित दोहा प्रसिद्ध है वह अधिक मान्य है—

चौदह सौ पचपन साल गए, चन्द्रवार एक ठाठ ठए
जेठ सुदी बरसायत को, पूरनमासी प्रगट भए।

किन्तु इस दोहे के सम्बन्ध में आचार्य श्यामसुन्दरदास ने यह आपत्ति उठाई है कि गणना से संवत् १४५५में पूर्णिमा चन्द्रवार को नहीं पड़ती है, इसलिए वे 'गए' का अर्थ बीत जाना लगाकर कबीर का जन्म १४५६ में मानते हैं किन्तु इंडियन क्रोनोलौजी के आधार पर डाक्टर रामकुमार वर्मा अपने इतिहास में लिखते हैं कि १४५६ में भी ज्येष्ठ सुदी पूर्णिमा चन्द्रवार को नहीं पड़ती वरन् मंगलवार को पड़ती है। डा० रामकुमार जी ने युगलानन्द जी के आधार पर बरसायत का अर्थ वट-सावित्री बतलाया है जो ज्येष्ठ बदी अमावस्या को पड़ती है। इसमें पूर्णिमासी और सुदी शब्द बड़े संदिग्ध मालूम होते हैं। पूर्णमासी का अर्थ खींच-तान कर पूर्ण चन्द्र मान भी लिया जाय (इसमें विरोधाभास अच्छा बन जाता है—अमावस्या को पूर्णचन्द्र का उदय होना) किन्तु सुदी को तो अशुद्ध पाठ ही मानना पड़ेगा। संभव है कि पूर्णमासी के संयोग से लोगों ने बदी का सुदी कर लिया हो। वट-सावित्री के बारे में डाक्टर रामकुमार जी ने भी नहीं लिखा कि वह चन्द्रवार को १४५५ में पड़ी या १४५६ में। उनका कथन है कि वट-

---

के लेखक पादरी वेसकट साहब उनका जन्म संवत् १४९७ और मृत्यु १५७५ मानते हैं, किन्तु इस मत से वे रामानन्द जी के समकालीन नहीं ठहरते।

सावित्री की तिथि कबीर पंथियों में मान्य है, नहीं तो बरसायत का अर्थ शुभ महूर्त लगाया जा सकता है। इसमें सुदी और पूर्णमासी दोनों शब्द सार्थक हो जाते हैं। यह बात अभी खोज का विषय रहेगी।

कबीर की मृत्यु के सम्बन्ध में यह दोहा प्रसिद्ध है—

संवत पन्द्रह सै पछतरा, कियो मगहर को गौन।
माघ सुदी एकादशी, रलो पौन में पौन॥

भक्तमाल में कुछ हेर-फेर के साथ यह दोहा दिया गया है। उसके अनुसार उनकी मृत्यु अगहन सुदी एकादशी संवत् १५४९ में हुई। भक्तमाल की तिथि इस लिए विचारणीय है कि सिकन्दर लोदी कबीर से संवत् १५५१ में मिला था। संवत् १५७५ की बात अधिक मान्य है।

जाति और जन्म-स्थान—जाति के सम्बंध में अधिक मत-भेद नहीं है। जुलाहे के घर पालन-पोषण तो सभी लोग मानते हैं किन्तु उनके जन्म के संबंध में कुछ लोगों का कथन है कि ये एक विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से, जिसको स्वामी रामानन्दजी ने पुत्रवती होने का आशीर्वाद दे दिया था, उत्पन्न हुए थे। इस बात में महत्ता-स्थापन की प्रवृत्ति मालूम होती है किन्तु यह संभव हो सकता है कि कबीर नीरू और नीमा को पड़े मिले हों। कबीर ने अपने को पूर्व-जन्म का ब्राह्मण मानते हुए इस जन्म का जुलाहा कहा है।

कासी का मैं बासी बाँमन, नाम मेरा परबीना।
एक बार हरि-नाम बिसारा, पकरि जोलाहा कीना।।
भाई मेरे कौन बिनैगो ताना।

किन्तु वे अपने जुलाहेपन के लिए किसी प्रकार से लज्जित न थे। उन्होंने डंके की चोट कहा है :—

तू ब्राह्मन मैं कासी का जुलाहा, बूझो मोर गियाना।

सम्भव है कि जुलाहेपन के हीनताभाव ने उनको ज्ञान की ओर अधिक प्रवृत्त किया हो। जाति के हीनताभाव को वे ज्ञान से संतुलित करना चाहते थे।

पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस संबंध में यह बतलाया है कि बंगाल और बिहार के धुनियाँ, जो पीछे से मुसलमान हो जाने के कारण जुलाहे कहलाते थे, योगमत के मानने वाले होते हैं। वे 'जुगी' कहलाते हैं और योग का ज्ञान उनकी पैतृक परम्परा में है। उनका अनुमान है कि यू० पी० में भी ऐसे जुलाहे रहे होंगे और कबीर उन्हीं में से थे। इस मत की पुष्टि में इतनी बात कही जा सकती है कि आसाम में गोरखनाथ को भी जुलाहा मानते हैं।

कबीर के जन्म-स्थान के विषय में अधिक मत-भेद नहीं है। इस सम्बंध में उनकी स्वयं ही गवाही है कि वे काशी में प्रगट हुए थे—

काशी में हम प्रगट भये हैं रामानन्द चेताए।

रामानन्द के उनके गुरु होने में कुछ लोगों को शंका है। डाक्टर मोहनसिंह जी ने भी इस सम्बन्ध में शंका उपस्थित की है। वे

उनको गुरु नानक से अधिक प्रभावित मानते हैं। मुसलमान लोग उनको शेख तकी का शिष्य मानते हैं। आचार्य शुक्ल जी तथा अन्य विद्वानों का मत है कि जिस प्रकार उन्होंने शेख तकी का उल्लेख किया है उससे यह नहीं प्रकट होता कि वे शेख तकी को अपना गुरू मानते थे 'घट घट अविनासी सुनहु तकी तुम सेख।' यह कहा जा सकता है कि कबीर के अक्खड़ स्वभाव के लिए यह बात असम्भव नहीं। किंतु जहाँ कबीर गुरू को परमात्मा से भी बढ़कर मानते हैं, वहाँ ऐसी बात सम्भव नहीं हो सकती। कहीं-कहीं उन्होंने गुरू और सतगुरु परमात्मा के लिए भी कहा है। किन्तु वे बिना गुरू के नहीं थे। गुरू में विश्वास उस समय की परम्परा थी।

विवाह और पुत्र—यद्यपि कबीर ने नारी की निन्दा की है तथापि विवाह अवश्य किया है। उनकी स्त्री का नाम लोई था। उसको सम्बोधित करके उन्हों ने कई पद भी लिखे हैं :'कहत कबीर सुनहु रे लोइ हरि बिन राखत हमें न कोई'; किन्तु यह संदिग्ध है कि वे हमेशा उसके साथ रहे या अपने वैराग्य में उन्होंने ऐसी साधु-सेविका स्त्री को भी त्याग दिया था—

नारी तो हम भी करी, जाना नाहिं विचार।
जब जाना तब परिहरि, नारी बड़ा विकार॥

कहा जाता है कि उनके कमाल नाम का एक पुत्र और कमाली नाम की एक पुत्री हुई थी। कमाल में शायद उतना त्याग न था तभी उन्होंने उसे अपने वंश का डुबानेवाला

कहा है,

बूड़ा वंश कबीर का उपजे पूत कमाल।
हरि का सुमिरन छोड़ के घर ले आया माल॥

पैगम्बरत्व का अहंभाव—कबीर अपने को नबी या पैगम्बर समझते थे और वे अपने को साधारण मनुष्यों और देवताओं से भी अधिक पहुँचा हुआ मानते थे। इस सम्बन्ध में नीचे के छंद विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

क—कासी में हम प्रगट भए हैं रामानन्द चेताए।
समरथ का परवाना लाए, हंस उबारन आए॥

ख—सुर, नर, मुनि, जन, औलिया ये सब उरली तीर।
अलहराम की गम नहीं तहँ घर किया कबीर॥

* * * *

ग—झीनी झीनी बीनी चदरिया

* * * *

साईं को सियत मास दस लागे ठोक ठोक के बीनी चदरिया।
सो चादर सुरनर मुनि ओढ़े ओढ़ि के मैली कीनी चदरिया।
दास कबीर जतन से ओढ़ो ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया।

* * * *

घ—रमैया की दुलहिन लूटा बजार।
कनफूँका चिदकासी लूटे, लूटे जोगेसर करत विचार।
हम तो बचिगे साहब दया से सब्द डोर गहि उतरे पार।

इन उदाहरणों में अहंभाव की भावना अवश्य दिखाई देती है और संभव है कि कबीर में किसी अंश में अहंभाव रहा भी

हो, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने जो कुछ कहा है वह भक्तों के प्रतिनिधि होकर कहा है और राम-नाम या गुरु-भक्ति या अद्वैतता की महत्ता दिखलाने के लिए कहा है। कहीं-कहीं उन्होंने भक्त की महिमा स्पष्ट रूप से कही है। वहाँ उन्होंने भक्त को सर्वोपरि ठहराया है, देखिए :—

शून्य मरै अजपा मरै, अनहद हू मरि जाय ।
राम सनेही ना मरै, कहि कबीर समझाय ॥
चन्दौ जइहै सुरजौ जइहै, जइहै पवनो पानी ।
कहि कबीर हम भक्त न जइहैं, जिनकी मति ठहरानी ॥

इसके अतिरिक्त अपने मत के प्रचार के लिए भी कुछ वसीठी-पन या साहब के परवाने की बात आवश्यक थी। कबीर ने 'हरि मरि हैं तो हमहू मरि हैं' आदि वाक्य जीव और ब्रह्म की एकता द्योतन करने को कहे हैं।

मृत्यु—साधारणतया लोग काशी में शरीर-त्याग को महत्व देते हैं किन्तु बीर ऐसी स्वतंत्र प्रकृति के थे कि वे ऐसी सस्ती मोक्ष नहीं चाहते थे। यदि भगवान् की उनपर कृपा है तो काशी क्या सभी स्थानों में (मगहर में भी) उनकी मोक्ष होगी, तभी उन्होंने कहा है :—

लोगो तुम ही मति के भोरा ।

*   *   *   *

मगहर मरै मरन नहिं पावै, अन्त मरै तो राम लजावै ।
मगहर मरै सो गदहा होई, भल परतीत, राम सों खोई ।

क्या कासी क्या ऊसर मगहर, राम हृदय वस मोरा ।
जो काशी तन तजै कबीरा, रामै कौन निहोरा ॥

इस बात की साक्षी दादू, नानक आदि ने भी दी है, देखिए–

काशी मगहर एक समान, मुए कबीरा रमते राम ॥

ग्रन्थ—कबीरदासजी का मुख्य ग्रंथ तो कबीर बीजक है। उसके भी दो संस्करण वतलाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त कबीर ने और बहुत से ग्रंथ लिखे जिनकी संख्या ५७ या ६१ तक बतलाई जाती है। बीजक के पश्चात् उनके साखी-संग्रह को महत्त्व दिया जाता है। अन्य दूसरे ग्रंथों में अनुरागसागर, उग्रगीता, निर्भय-ज्ञान, शव्दावली, रेखतों आदि के संग्रह आदि प्रमुख हैं। कबीर का सबसे प्रामाणिक संग्रह वह माना जाता है जो सिक्खों के आदिग्रन्थ में संगृहीत है।

स्वभाव—कबीर बड़े सन्तोषी और स्वतंत्र स्वभाव के थे। 'जिनको कछू न चाहिये सोही साहंसाह।' वे इतना ही धन चाहते थे कि खुद खा सकें और द्वार से साधू भूखा न जाय। सन्तोष ही उनके स्वाभिमान का कारण था। परमार्थ के लिए वे स्वाभिमान को भी बलिदान कर सकते थे—

मर जाऊँ माँगूं नहीं अपने तन के काज।
परमारथ के कारनै मोहि न आवै लाज ॥

साधु सेवा और परमार्थ की भावना तो उनकी बहुत बढ़ी हुई थी। इस सम्बन्ध में कहा जाता है कि साधु-सेवा के लिए

तो वे अपनी स्त्री के सतीत्व को बेचने में भी संकोच नहीं कर सके थे।

कबीर घर में रह कर भी फ़कीर थे। 'घर में जोग, भोग घर ही में, घर तज बन नहीं जावै। वन के गए कल्पना उपजै तब धौं कहाँ समावै॥' वे दूसरों की बुराइयों का उद्घाटन करने में पूर्णतया निर्भय थे। उनमें विशेषता यह थी कि वे किसी का पक्ष-पात नहीं करते थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों को उन्हों ने एक-सा फटकारा है। 'हिन्दू तुरक हटा नहिं मानैं, स्वाद सबन को मीठा—'वै हलाल, वै झटका मारैं आगि दुहौं घर लागी'। कबीर किसी मत के विरोधी न थे। उनकी समदृष्टि में महादेव और मुहम्मद एक थे। 'वही महादेव, वही मुहम्मद ब्रह्मा आदम कहिए'। किन्तु वे मिथ्याचार को सहन नहीं कर सकते थे। योग मार्ग से वे प्रभावित थे किन्तु उसकी भी उन्होंने बुराई की है। "महादेव का पंथ चलावै। ऐसौ बड़ौ महन्त कहावै॥ हाट वाट में लावै तारी, कच्चे सिद्धन माया प्यारी।" वे भी कोरे साखी शब्दों के जिनमें अनुभवी ज्ञान न हो, उतने ही विरोधी थे जितने कि आचार्य शुक्ल जी ने तुलसी को बतलाया है। 'साखी सबद गावत भूले आतम खबर न जाना।' यही है हृदय की ईमानदारी। इसकी कबीर में कमी न थी।

प्रभाव और सिद्धान्त—कबीर पर कई प्रकार के प्रभाव थे। जन्म या वर्ण से उनका पालन-पोषण मुसलमान घर में हुआ, दीक्षा रामानन्दी वैष्णव सम्प्रदाय की मिली और उन्हीं महात्मा

के खंडन-मंडनात्मक उपदेशों द्वारा तत्कालीन शास्त्रीय-ज्ञान (विशेषकर शाङ्कर वेदान्त और उपनिषदों का) प्राप्त हुआ और पर्यटन में गोरखपंथी योगियों के सम्पर्क में आये। कट्टर मुसलमानों के अतिरिक्त शेख़ तकी जैसे सूफ़ी फ़कीरों के भी वे सम्पर्क में आये। इनकी वाणी में सभी प्रभाव परिलक्षित होते हैं। इन प्रभावों को सूचित करने वाले पृथक्-पृथक् उद्धरण दिये जाते हैं।

मुसलमानी प्रभाव—कट्टरपन्थी मुसलमानों का प्रभाव दो बातों में परिलक्षित होता है। एक खण्डनात्मक—मूर्त्ति-पूजा आदि के खण्डन में और दूसरा ईश्वर की परात्परता और उसके नूर या प्रकाश रूप होने में। ये बातें हिन्दू-धर्म में भी हैं किन्तु मुसलमानी धर्म में इन पर विशेष बल दिया गया है। हिन्दू-धर्म में ईश्वर को संसार में भी व्याप्त और उससे परे भी माना है किन्तु मुसलमान-धर्म में उसे परे अधिक माना है। खण्डनात्मक उक्तियाँ भी मुसलमान-धर्म का एकाधिकार नहीं हैं। बाह्याडम्बर का खण्डन बौद्ध-धर्म में भी किया गया है।

खण्डनात्मक उक्तियाँ--

(अ) मूर्ति—पाहन पूजे हरि मिलें तो मैं पूजूँ पहार।
तातें यह चाकी भली पीसि खाय संसार॥

(आ) तीर्थ—तीरथ गये ते बहि मुये, जूड़े पानी न्हाय।
कह कबीर सन्तो सुनो, राक्षस ह्वै पछिताय॥

(इ) अवतार—परसुराम छत्री नहि मारा
ई छल माया कीन्हा !

❀ ❀ ❀ ❀

सिरजनहार न ब्याही सीता,
जल पखान नहिं बाँधा।

पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय ने कुछ ऐसे भी उदाहरण दिये हैं जिनमें अवतार को माना गया है।

जाति-पाँति और छुआछूत के खण्डन में उन पर मुसलमानी प्रभाव भी चाहे हो किन्तु समता-भाव में सिद्धों और गोरखपन्थियों द्वारा आया हुआ बौद्ध-मत का प्रभाव है।

समता-भाव—

गुप्त प्रकट है एकै मुद्रा। काको कहिए ब्राह्मन शुद्रा॥
झूठ गरब भूलै मत कोई। हिन्दू तुरक झूठ कुल दोई॥
जो तुम ब्राह्मन ब्राह्मनि जाए। और राह तुम काहे न आए॥

❀ ❀ ❀ ❀

एक बिन्दु ते सृष्टि रच्यो को ब्राह्मण को शूद्र।

ईश्वर सम्बन्धी मुसलमानी प्रभाव—

क—तासु बदन की कौन महिमा कहौ, भासती देह अति नूर छाई।
सून्य के बीच में विमल बैठक जहाँ सहज अस्थान है गैब केरा॥
छोड़ि नासूत मलकूत जबरूत को, और लाहूत हाहूत बाजी।
जाब जाहूत में खुद खाविंद जँह, वही मक्कान साकेत साजी॥

❀ ❀ ❀ ❀

ख—नूर का महल और नूर की भूमि है
तहाँ आनंद सो द्वन्द भाजै

कबीर ने जो तबकों का उल्लेख किया है वह भी मुसलमानी प्रभाव है।

वैष्णवी-प्रभाव, अहिंसा--

बकरी मुरगी किन फ़ुरमाया। किसके हुकुम तुम छुरी चलाया॥
दरद न जानै पीर कहावे। वैता पढ़ि-पढ़ि जग समुझावै॥
दिन भर रोजा धरत हौ, रात हनत हौ गाय।
वह तो खून वह वन्दगी, क्यों कर खुसी खुदाय॥

इसी हिंसावाद के कारण उन्होंने शाक्तों की निन्दा की है और शाक्त के साथ रह कर खीर और खाँड खाने की अपेक्षा उन्होंने वैष्णव के साथ भूसी खाकर रहना अच्छा वतलाया है। देखिए—

कबिरा सङ्गत साधु की जौ की भूसी खाय।
खीर खाँड भोजन मिलै साकट संग न जाय॥

आवागमन—आवागमन सम्बन्धी विचार हिन्दू-धर्म की विशेषता है। यह विचार हिन्दू मनोवृत्ति का अङ्ग है। हिन्दुओं के सभी सम्प्रदाय इसको मानते हैं। कबीर में इस विचार का प्रतिपादन पर्याप्त मात्रा में मिलता है। देखिए :—

दिवाने मन भजन बिना दुख पैहौ।
पहिला जनम भूत का पैहौ, सात जनम पछितैहौ।
दूजा जनम सुवा को पैहौ, बाग बसेरा लइहौ।
टूटे पंख बाज मँडराने, अधफड़ प्रान गँवैहौ।

बाजीगर के बानर ह्वैहौ, लकड़िन नाच नचैहौ।
ऊँच-नीच के हाथ पसरिहौ, माँगे भीख न पैहौ।

*　　　　*　　　　*　　　　*

करम गति टारे नाहि टरी।
मुनि बसिष्ठ से पण्डित ज्ञानी सोधि के लगन धरी।
सीता हरन मरन दसरथ को वन में बिपति परी।

*　　　　*　　　　*　　　　*

विशेष—यह पद इसी रूप में सूरदासजी में भी मिलता है—
अपने करम न मेटो जाई।
कर्म के लिखा मिटे धौं कैसे जो गुण कोटि सिराई॥

*　　　　*　　　　*　　　　*

लख चोरासी बहुत बासना सो सब सरि भो माटी।

*　　　　*　　　　*　　　　*

धरि धरि जनम सबै भरमे हैं ब्रह्मा विष्णु महेस।

भक्ति—कबीर ज्ञानमार्गी थे किन्तु उन्होंने भक्ति का निरादर नहीं किया, यह वैष्णवी प्रभाव ही है। उन्होंने निष्काम-भक्ति को ही मुख्यता दी है।

और कर्म सब कर्म हैं, भक्ति कर्म निष्कर्म।
कहै कबीर पुकार कै, भक्ति करो तजि धर्म॥
भुक्ति मुक्ति माँगौ नहीं, भक्ति दान दें मोहि।
और कोई याचौं नहीं, निस दिन याचौं तोहिं॥
कामी क्रोधी लालची, इनसे भक्ति न होय।
भक्ति करै कोई सूरमा, जाति बरन कुल खोय॥

नाम-स्मरण—कबीर ने यद्यपि अवतारवाद नहीं माना है और रामावतार का भी खण्डन किया है (दसरथ कुल अवतर नहिं आया। नहिं लंक के राय सताया) तथापि राम नाम की महिमा दिल खोल कर गाई। उनका राम-नाम भगवान का पर्यायवाची है। उसमें रंकार की धुनि है जो सर्वत्र व्याप रही है, देखिए :—

राम के नाम ते पिंड ब्रह्माण्ड सब राम का नाम सुनि भरम मानी।
निरगुन निरंकार के पार परब्रह्म है तासु को नाम रंकार जानी॥

कबीर जी राम की इतनी महिमा गाते हुए भी उसके लिए हृदय की सच्चाई और भक्ति चाहते हैं। वे तोता रटन्त के पक्ष में नहीं हैं।

पण्डित वाद वदौ सो झूठा।
राम के कहे जगत गति पावै खाँड कहै मुख मीठा।
पावक कहै पाँव जो दाहै जल कहै तृखा बुझाई।
भोजन कहै भूख जो भाजै तो दुनिया तर जाई।
नर के संग सुवा हरि बोले, हरि प्रताप नहिं जानै।
जो कबहूँ उड़ि जाय जंगल को हरि की सुरति न आनै।

* * * *

कहै कबीर एक राम भजे बिनु बाँधे जम पुर जासी।

शाङ्कर मत का प्रभाव—शाङ्कर मत का मूल सिद्धान्त है—ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, जीव ब्रह्म है और कोई दूसरा नहीं। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' रामानन्द के

सिद्धान्त इससे कुछ भिन्न थे। वे विशिष्टाद्वैत के मानने वाले थे अर्थात् वे संसार और जीव दोनों को भगवान के विशेषण रूप से अङ्ग मानते थे किन्तु उस समय पंडित समाज में शङ्कराचार्य का ही अधिक प्रभाव था। रामानन्दजी के यहाँ कबीर सभी प्रकार के साधुओं से सम्पर्क में आये। भक्ति, अहिंसा, दया, क्षमा आदि गुणों में वे रामानन्दजी से प्रभावित हुए। दार्शनिक सिद्धान्तों में उनका मन शाङ्कर वेदान्त में अधिक रमा और उनके ही सिद्धान्तों द्वारा उपनिषदों के ज्ञान से वे प्रभावित हुए। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' की झलक उनके नीचे के पद्यांश से मिलती है :

'बाजी झूँठ बाजीगर साँचा, साधुन की मति ऐसी'

कबीरदासजी जीव और ब्रह्म की पूर्ण एकता भी मानते थे।

जीव ब्रह्म की एकता—जीव ब्रह्म की एकता के सम्बन्ध में नीचे के छन्दों का उल्लेख किया जा सकता है।

लाली मेरे लाल की जित देखों तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल॥
नोन गला पानी मिला बहुरि न भरि है गौन।
सुरत शब्द मेला भया काल रहा गहि मौन॥
पानी ही ते हिम भया हिम ही गया बिलाय।
कबिरा जो था सोई भया अब कछु कहा न जाय॥
मैं लागा उस एक से एक भया सब माँहि।
सब मेरा मैं सबन का तहाँ दूसरा नाहिं।
हेरत-हेरत हे सखी हेरत गया हिराय।

बुंद समानी समुंद में सो कित हेरी जाय ।।

कबीर ने समुद्र का भी बूँद में समा जाना मान कर पूर्ण अद्वैतता का परिचय दिया है। इसी जीव और ब्रह्म की एकता के आधार पर वे शूद्र और ब्राह्मण तथा हिन्दू मुसलमान की एकता मानते हैं।

माया—कबीर ने जीव ब्रह्म की एकता के साथ माया को भी माना है। अवतारादि को उन्होंने माया का ही विकार माना है—

दस अवतार ईश्वरी माया कर्ता कै जिन पूजा

कबीर ने सारे संसार को ही कृत्रिम कहा है—

करता किरतिम बाजी लाई। ओंकार ने सृष्टि उपाई ॥
पाँच तत्त तीनों गुन साजा। ताते सब किरतिम उपराजा ॥
किरतिम सरगुन सकल पसारा। किरतिम कहिए दस औतारा ॥

माया का उल्लेख कबीर ने अनेक रूप से किया है। कभी उसे धोबिन कहा है और कभी जल या सागर कहा है, तभी तो जल में आग लगाने की उलटी बात सार्थक हो जाती है। मनुष्य माया से उत्पन्न होता है और उसी में रमने लगता है तभी तो बाप-पूत की एक नार होने की बात समझ में आती है।

बाप पूत की नार एक, एकै माय विआय।
दिख्या न पूत सपूत अस, बापै चीन्है धाय ॥

ब्रह्म के स्वरूप की अनिर्वचनीयता—कबीर ने ब्रह्म को निर्गुण और गिराज्ञानगोतीत माना है। उन्होंने उपनिषदों की भाषा में

उसका नेति रूप से वर्णन किया है। वह निर्गुण और सगुण से भी परे है। न वह एक है न अनेक; उसको संख्या में बाँधना उसका अपमान है। वह पुस्तक के ज्ञान से परे और वर्णनातीत है—

बाबा अगम अगोचर कैसा, ताते कहि समुझाऊँ ऐसा।
जो दीसै सो तो है नाहीं, है, सो कहा न जाई॥
सैन-बैना कहि समझाऊँ गूंगे का गुर भाई।
दृष्टि न दीसै मुष्टि न आवै, बिनसै नाहिं नियारा॥
ऐसा ज्ञान कथा गुरु मेरे, पंडित करौ बिचारा॥

* * * *

कोई ध्यावे निराकार को, कोई ध्यावै साकारा।
वह तो इन दोऊ ते न्यारा, जाने जानन हारा॥

* * * *

एक कहो तो है नहीं दोय कहों तो गारि।
है जैसा तैसा रहै कहै कबीर विचारि॥
नेत नेत जेहि वेद कहि, जहाँ न मन ठहराय।
मन बानी की गम नहीं, ब्रह्म कहा किन ताय॥
जो देखे सो कहै नहिं, कहै सु देखे नाहिं।
सुनै सो समझावै नहीं, रसना, दृग श्रुति काहिं॥

ब्रह्म सब में व्यापक है और सब के भीतर है। उसको अपने में ही खोजना चाहिए—

ज्यों तिल माँहीं तेल है, ज्यों चकमक में आगि।
तेरा साँई तुज्झ में जागि सकै तो जागि॥

*　　*　　*　　*

बीज मध्य ज्यों वृच्छा दरसै, वृच्छा मद्धे छाया।
परमातम में आतम तैसे आतम मद्धे माया॥

*　　*　　*

आतम में परमातम दरसै, परमातम में झाँई।
झाई में परछाई दरसै लखै कबीरा साई॥

ब्रह्म का स्वरूप—कबीर ने यदि ब्रह्म का कोई स्वरूप माना है तो उसे ज्योतिस्वरूप और शब्दरूप माना है। ज्योति स्वरूप तो हिन्दुओं में भी माना गया है किन्तु मुसलमानों ने उसके नूर पर अधिक जोर दिया है। शब्द रूप के सम्बन्ध में कुछ ईसाइयों का कहना है कि शब्द उन्होंने ईसाइयों से लिया। The word was God. किन्तु कबीर ने हिन्दू मुसलमान और जैनों का तो उल्लेख किया है, ईसाइयों का तो नाम भी नहीं लिया है। हमारे यहाँ शब्द ब्रह्म का विचार बहुत दिनों से चला आता है। वैयाकरणों ने भी स्फोट को माना है। भवभूति में शब्द-ब्रह्म का उल्लेख आया है। देखिए उत्तररामचरित अङ्क २।

योग में भी नाना प्रकार का प्रकाश और ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं। कबीर में जो ब्रह्म का प्रकाश और शब्द का जो रूप दिया गया है वह अधिकांश में योग का ही प्रभाव है।

कबीर ने शून्य और सहज को भी माना है। यह बौद्धधर्म

और सहजयान का प्रभाव है किन्तु हम पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में कह सकते हैं कि उनका शून्य और सहज का कुछ दूसरा ही अर्थ था। यह दूसरी बात है कि ये शब्द उन्होंने उन लोगों से ही चाहे लिये हों।

साधना में हठयोग का प्रभाव—कबीर का रहस्यवाद साधना-प्रधान था। कबीर पुस्तक-ज्ञान को कोई महत्व नहीं देते थे। वे अनुभवी ज्ञान के मानने वाले थे—

लिखा-लिखी की है नहीं, देखा-देखी बात।
दुलहा दुलहिन मिल गये, फीकी पड़ी बरात॥

*　　*　　*　　*

मैं कहता हौं आँखिन देखी, तू कहता कागद की लेखी।

इस अनुभव की प्राप्ति के लिए साधना की आवश्यकता होती है। यह साधना कई प्रकार की है। साधक में शील, सन्तोष, दया, दीनता, क्षमा आदि सद्गुणों के अनुशीलन के अतिरिक्त (१) मन का नियन्त्रण (२) सत्संग और गुरुभक्ति (३) नाम स्मरण (४) हठयोग की आवश्यकता है। इन साधनों से साधक आत्म-शुद्धि कर आत्म-साक्षात्कार कर सकता है। कबीर ने इन सभी बातों को महत्व दिया है।

गुरू को तो कबीर ने गोविन्द से भी बढ़कर स्थान दिया है। वह कुम्हार की तरह से एक हाथ से सम्हालता हुआ और दूसरे से ठोकता हुआ शिष्य की खोट निकाल देता है—

गुरु कुम्हार सिप कुम्भ है, गढ़ गढ़ काढ़े खोट।
अन्तर हाथ सहार दै बाहर बाहै चोट॥

जप में कबीर ने अजपा जाप को ही महत्ता दी है। माला के मनका फेरने की अपेक्षा वे मन का मनका फेरने की सलाह देते हैं। यह भी इसीलिए कि साधक परमात्मा का स्मरण करता हुआ अपने को भूल जाय—

तू तू करता तू भया, मुझ में रही न हूँ।

हठयोग—इस परम्परा के प्रवर्तक स्वयं शिवजी माने जाते हैं। गोरखनाथ ने इसका प्रचार किया था। हठयोगी पिण्ड को ब्रह्माण्ड का नक्शा मानते हैं। शरीर में चन्द्र, सूर्य, गंगा, जमुना, सरस्वती की स्थापना मानी जाती है। हठयोग का अर्थ ही सूर्य को चन्द्र में मिला देना है। 'ह' कहते हैं सूर्य को 'थ' कहते हैं चन्द्र को। सूर्य शरीर की शोषक शक्ति को कहते हैं और चन्द्र अमृत का स्राव करने वाली सञ्जीवनी शक्ति को कहते हैं। सूर्य का स्थान नीचे है और चन्द्र का स्थान ऊपर है। नीचे का स्थान ऊपर से जितनी दूर रहता है उतनी ही शरीर में जर्जरता आती है। सूर्य जब चन्द्र से मिल जाता है तब साधक को अमृत का लाभ होने लगता है। इसी को कबीर ने उलटा कुआँ कहा है।

इस सम्बन्ध में कबीर की नीचे की पंक्तियाँ देखिए—

चन्द सूर एकै घर लाओ, सुषमन सेती ध्यान लगाओ।

* * * *

गगन मंडल बिच उर्धमुख कुइयाँ गुरुमुख साधू भर भर पीया।

शरीर में तीन मुख्य नाड़ियाँ मानी गयी हैं—सुषुम्ना नाड़ी मेरुदण्ड में स्थित बीच की नाड़ी है। इसको कबीर ने लेजु या रस्सी भी कहा है, इड़ा सुषुम्ना के बाईं ओर है और पिंगला दाईं ओर है। दोनों नाड़ियाँ ब्रह्मरन्ध्र में मिल जाती हैं। इड़ा को गंगा कहते हैं, पिंगला को जमुना कहते हैं और सुषुम्ना को सरस्वती।

इसी सुषुम्ना के सहारे नीचे की ओर मुँह किये सर्पिणी के रूप कुण्डलिनी रहती है। साधक इसको जगा कर ऊपर की ओर ले जाता है और अमृत के स्रोत से मिला देता है। कुण्डलिनी शक्ति के जाग्रत होने पर साधक को प्रकाश दिखाई पड़ता है और विश्व में व्याप्त अनहद (अनाहत अर्थात् विना चोट का) नाद सुनाई पड़ता है। 'उलटि नागिनी का सिर मारो, तँह शब्द ओंकारा है।'

सुषुम्ना नाड़ी के सहारे नीचे से ऊपर छ कमल या चक्र माने गये हैं। इन सबके ऊपर मस्तक में सहस्रार चक्र है जिसमें सहस्र पँखुरी का कमल है। बुद्ध भगवान की मूर्तियों के सिर पर जो घुँघराले से बाल दिखाई पड़ते हैं, वे इसी सहस्रदल की पंखुरियाँ हैं। नीचे के चक्र में हठयोग-चक्रों का स्थान बतलाया गया है :—

७–मस्तिष्क	सुषुम्ना नाड़ी	७–सहस्त्रार-सहस्त्र दल, अक्षय-पुरुष का वास होता है। इसी में चन्द्रमा है जो अमृत का स्रोत है।
६–त्रिकुटी-दोनों भोहों के बीच में		६–अज्ञा चक्र दो दल का होता है। इसे भँवर गुफा भी कहते हैं। इसमें परमहंस का वास रहता है।
५–कंठ		५–विशुद्ध चक्र सोलह दल का होता है। यहाँ जीव या अविद्या का वास है।
४–हृदय		४–अनहत चक्र, बारह दल, देवता शिव गोरी, सोहं शब्द।
३–नाभि		३–मणिपूर चक्र, आठ दल, देवता विष्णु, जाप हिरंग।
२–जननेन्द्रिय के आधार में		२–स्वाधिष्ठान चक्र, छः दल, देवता ब्रह्मा और सरस्वती, यहीं कुण्डलिनी का वास है।
१–मल त्याग और जननेन्द्रिय के बीच का स्थान		१–मूलाधार चक्र, चार दल कमल, जाप ओंकार। इसी में सूर्य की स्थिति रहती है। देवता गणेश, जाप कलिंग।

कबीर में हठयोग का उल्लेख अनेकों स्थान में हुआ है। ऊपर के विवरण से उनका समझना सरल हो जायगा।

उन्मनि सो मन लागिया गगनहिं पहुँचा जाय।
चाँद बिहूना चाँदना अलख निरंजन राय॥

गगन गरजि बरसै अमी बादल गहरि गँभीर।
चहुँ दिसि दमके दामिनी भीजै दास कबीर॥

उन्मन शब्द का प्रयोग गोरखनाथ की वाणी में भी हुआ है। उन्मन का अर्थ है 'उन' परमात्मा का मन अर्थात् विश्व-चेतना में लीन होने की अवस्था है।

धोती नेती बस्ती पाओ, आसन पदम जुगुत से लाओ।
कुँभक कर रेचक करवाओ पहले मूल सुधार कार्य हो सारा है॥

सूफ़ी-प्रभाव और रहस्यवाद—कबीर का सम्पर्क सूफ़ी सन्तों से रहा है और वे उनसे प्रभावित भी थे। सूफ़ियों के भांति कबीर ने भी प्रेम को ही ईश्वर-प्राप्ति का साधन माना है। कबीर ने अपने निर्गुण में माधुर्य-भाव की उपासना की। सूफ़ियों के प्रेम में और कबीर के प्रेम में यही अन्तर है कि सूफ़ियों ने साधक को पुरुष माना है और ईश्वर को स्त्री या प्रेम पात्र। कबीर ने भारतीय परम्परा को अपनाते हुए अपने को स्त्री मानकर ईश्वर के प्रति विरह निवेदन किया है। उन्होंने अपने को 'राम की बहुरिया' कह कर ईश्वर के साथ अपना आध्यात्मिक विवाह कराया है। कबीर सिद्धान्तरूप से पूर्णातिपूर्ण अद्वैतवादी और निर्गुण-वादी हैं किन्तु इस माधुर्य-भाव की उपासना में उनको ब्रह्म में पुरुष-भाव का आरोप-सा करना पड़ा है। किन्तु उनकी प्रेम की पराकाष्ठा पूर्ण अद्वैतता में पहुँच जाती है।

रहस्यवाद—तत्व-ज्ञान जब भावनापूर्ण अनुभूति का विषय बन जाता है तभी रहस्यवाद की उत्पत्ति होती है। असीम और

ससीम के सम्बन्ध में गूँगे के गुड़ की सी अनिर्वचनीयता रहती है जो रहस्यमय हो जाती है। कबीर की वेदना चाहे मीरा की भांति तीव्र न हो किन्तु वह अनुभूति शून्य नहीं है। कहीं-कहीं तो उनका विरह-निवेदन काफ़ी सरस है किन्तु उनकी शृङ्गारिकता ज्ञान की शुष्कता पर उनकी झीनी-झीनी बीनी चदरिया का सा झीना आवरण मात्र रह जाता है। भगवान के प्रति माधुर्य-भाव के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

बालम आओ हमारे गेह रे तुम बिन दुखिया देह रे
सब कोई कहै तुमारी नारी, मो को यह संदेह रे॥

* * * *

हम तो तुमरी दासी सजना, तुम हमरे भरतार।
दीन दयाल दया कर आओ, समरथ सिरजनहार॥
कै हम प्राण तजत हैं प्यारे, कै अपना कर लेव।
दास कबीर विरह अति बाढ़ेउ, हमकै दरसन देव॥

कबीर ने चार मुकाम (चार मुकाम पर खंड सोरह कहैं) आदि सूफ़ी शब्दावली का भी प्रयोग किया है और कुछ पंक्तियां जैसे 'मुरशिद नैनों बीच नबी है, स्याह सफ़ेद तिलों बिच तारा अविगत अलख रबी है', अवश्य सूफ़ी शैली से प्रभावित हैं।

कबीर की देन—इन प्रभावों के वर्णन करने से मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि कबीर में कुछ अपना नहीं है। मनुष्य दूसरों में से वही चुनता है जिसमें उसकी रुचि होती है। कबीर सच्चे

सन्त की भाँति* सारग्राही थे। उन्होंने सार-ग्रहण ही नहीं किया वरन् समन्वय भी किया। उन्होंने अपने समय की आवश्यकता को पहचाना। वह थी—हिन्दू-मुसलमानों को एक-दूसरे के निकट लाना और शूद्रों को, जिन की स्थिति—उस समय धोबी के कुत्ते की सी, जो न घर का होता है, और न घाट का—होरही थी। (वे लोग मुसलमानों में इसलिए दुतकारे जाते थे कि वे हिन्दू थे और हिन्दुओं में इसलिए अपमानित होते थे कि वे शूद्र थे), ऊँचा उठाने का प्रयत्न। उन्होंने वेदान्त के ज्ञान को व्यवहार में भी अपनाया, शास्त्र-ज्ञान की अपेक्षा अनुभवी ज्ञान को महत्ता दी, कथनी और करनी के विच्छेद का विरोध किया और मनुष्य को, मनुष्य का, मनुष्य के नाते आदर करना सिखाया। कबीर ने राम और रहीम, आदम और ब्रह्मा को एक बता कर हिन्दू-मुसलमानों को एक दूसरे के निकट लाने का प्रयत्न किया। इस प्रयत्न में शायद बहुत सफल भी होते यदि वे निर्भीकतापूर्वक दोनों के दोषों का उद्घाटन न करते। किन्तु सच्चा सुधारक सत्य बोलने से नहीं डरता। वे उन दोनों जातियों के मिथ्या गर्व को जिसके कारण वे एक दूसरे के निकट नहीं आने पाते थे दूर करना चाहते थे। कबीर का प्रयत्न निष्फल नहीं गया। वह अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ

---

*साधू ऐसा चाहिए, जैसा सूप सुभाय।
सार-सार को गहि रहै, थोथा देइ उड़ाय॥

और दारा में फलवान हुआ। कबीर ने हिन्दुओं और मुसलमानों की धर्म-पुस्तकों का यदि खण्डन किया है तो इसलिए कि लोग उनका तत्व नहीं समझते। उन्होंने उसी को झूठा कहा जो विचार नहीं करता और भेदबुद्धि रखता है—

वेद किताब कौन किन झूठा, झूठा जो न विचारै।
सब घट माँहिं एक करि लेखै, भै दूजा करि मारै॥

कबीर की साहित्यिकता—कबीर के लिए कविता प्रचार का साधन मात्र थी। उन्होंने कविता के लिए कविता नहीं की वरन् उसे अपने भावों को जनता तक पहुँचाने का माध्यम बनाया। उनके हृदय में सचाई थी और आत्मा में बल था। इसी कारण उनकी वाणी में भी शक्ति आ गई। सच्चे हृदय से निकली हुई बात स्वयं सरस होती है। वह बाहरी उपकरणों की परवाह नहीं करती किन्तु उसमें अलङ्कारादि स्वयं ही आ जाते हैं। यद्यपि कबीर ने कहा है—मसि कागद तो छुयो नहिं, कलम गही नहि हाथ।' तथापि वे बहुश्रुत थे। वे भारत की शास्त्रीय और साहित्यिक परम्परा में रँगे हुए थे। वे परा पश्यन्ती, मध्यमा, बैखरी वाणी के चार भेदों को और जहद अजहद और जहदाजहद लक्षणा के तत्वमसि पद में प्रयोग को जानते थे। संस्कृत वे चाहे न जानते हों लेकिन उनके छन्दों में बहुत से प्रचलित श्लोकों के भाव ज्यों के त्यों उतर आये हैं। उनके उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

कबीर—

सब बन तौ चन्दन नहीं, सूरा का दल नाहिं।
सब समुद्र मोती नहीं, यों साधू जग माहिं॥

संस्कृत की उक्ति—

शैले शैले न माणिक्यं मौक्तिकं न गजे गजे।
साधवो नहिं सर्वत्र चन्दनं न वने वने॥

कबीर—

वृच्छ कबहुँ नहिं फल भखै, नदी न संचै नीर।
परमारथ के कारने, साधुन धरा सरीर॥

संस्कृत—

यह भी एक श्लोक की छाया है जिसके अन्त में आता है 'परोपकाराय सतां विभूतयः'।

कबीर—

सब धरती कागद करूँ, लेखनि सब बनराय।
सात समुँद की मसि करूँ, गुरु गुन लिखा न जाय॥

संस्कृत—

असितगिरि समस्यात्कज्जलं सिन्धुपात्रे।
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी॥
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा,
तदपि तव गुणानामीश पार न याति।

महिम्न स्तोत्र की इस उक्ति को सूर और तुलसी के अपनाने से पूर्व कबीर ने अपनाया था।

कबीर—

पंगुल मेरु सुमेरु उलंघै त्रिभुवन मुक्ता डोलै।
गूँगा ज्ञान विज्ञान प्रकासै अनहद बाणी बोलै ॥

संस्कृत—

मूकं करोति वाचालं पंगु लंघयते गिरिम्।
यत्कृपया तमहमं बन्दे परमानन्दं माधवम् ॥

सूर ने भी इसकी छाया ली है।

कबीर—

बालपना सब खेलि गँवाया, तरुन भया नारी बस का रे।
विरध भया कफ बाय ने घेरा, खाट पड़ा न जाय खसका रे॥

इसमें शङ्कराचार्य के वालस्तावत क्रीड़ासक्तः की प्रतिध्वनि है।

भारतीय काव्य के कवि-समयों, प्रतीकों आदि से भी कबीर भली भाँति परिचित थे। हंस का नीर-क्षीर-विवेक, मलयागिरि पर सब वृक्षों का चन्दन हो जाना, चन्द्र और कुमुदिनी का प्रेम, जल और कमलपत्र की निर्लिप्तता, चातक की अनन्यता जिसको तुलसीदासजी ने अपनी चातक चौतीसी में अपनाया है, सेमर के फूल की निस्सारता जिसका सूर ने अपनी चेतावनियों में उपयोग किया है आदि कवि-प्रशस्तियों से वे परिचित थे।

भाव-सुकुमारता में भी कबीर अपने परवर्ती कवियों से कम न थे। नीच की सी भाव-सुकुमारता बिहारी में भी मुश्किल से ही मिलेगी। अलौकिक प्रेम में इतनी सरसता लाना कठिन है।

सुपने में साँईं मिले, सोवत लिया जगाय।
आँखि न खोलूँ डरपता, मत सुपना ह्वै जाय॥

स्वप्न को अभिधार्थ और लक्ष्यार्थ के मिल जाने से विशेष चमत्कार उत्पन्न हो जाता है।

साँई केरे बहुत गुन लिखे जो हिरदे माहिं।
पिउँ न पानी, डरपता, मत वै धोए जाँहि॥
नैनों अन्तर आव तू नैन झाँपि तोहि लेंव।
ना मैं देखौं और को ना तोहिं देखन देंव॥

यह है प्रेम का एकाधिकार।

कहीं-कहीं कबीर ने शब्द-चित्र भी सुन्दर खींचे हैं, एक गंगा-स्नान को जाने वाली का चित्र देखिए:—

चली है कुलबोरनी गंगा नहाय।

क—सतुआ बराइन बहुरी भुँजाइन घूँघट ओटे भसकत जाय।
गठरी बाँधिनि मोठरी बाँधिन, खसमके मूँड़े दिहि न धराय॥

कबीर का अभिव्यक्ति पक्ष चाहे सूर तुलसी और केशव का सा न हो किन्तु जो कुछ है वह इतना पर्याप्त है कि वे किसी रियायत से नहीं वरन् ईमानदारी से कवि कहे जा सकते हैं।

यद्यपि कबीर में अलङ्कार प्रयत्न से नहीं लाये गये हैं तथापि उनकी रचनाओं में उनका अभाव नहीं है। स्वाभाविक होने से उनमें और भी चमत्कार है। रहस्यवाद तो गूँगे के गुड़ की भाँति वैसे भी सैना-बैना की वस्तु है। उसमें रूपक और

अन्योक्तियों से ही काम लिया जाता है। उनकी अन्योक्तियाँ बड़ी सरस हैं।

अन्योक्ति—

क—हंसा प्यारे ! सरवर तजि कहँ जाय ?
जेहि सरवर विच मोती चुनते, बहु विधि केलि कराय॥
सूख ताल पुरइन जल छोड़े, कमल गयो कुम्हलाय।
कह कबीर जो अबकी बिछुरे, बहुरि मिलै कब आय॥

ख—काहे री नलिनीं, तू कुम्हिलानी, तेरे ही नालि सरोवर पानी।
जल में उत्पति जल में वास, जल में नलिनी तोर निवास॥

इस अन्योक्ति द्वारा कबीर ने यह बतलाया है कि जीव आनन्दमय ब्रह्म का अङ्ग होता हुआ भी माया और अविद्या के कारण ही दुखी रहता है—

ग—धन मैली पिउ ऊजला लागि न सकों पाय।

यह धन स्त्री (जीव) के लिए आया है, कहने का तात्पर्य यह है कि जीव पापी है और परमात्मा निष्पाप फिर किस तरह मिलन हो ?

अनुप्रास—

'गगन घटा गहरानी साधो गगन घटा गहरानी।'

* * *

ऐंचत तार मरोरत खूँटी निकसत राग हजूरे का'

यमक—

कबिरा सोई पीर है, जो जानै पर पीर।
जो पर पीर न जानई, सो काफ़िर बेपीर॥

अतद्गुण—

सन्त न छोड़े सन्तई, कोटिक मिलें असन्त ।
मलया भुजँगहि बेधिया, सीतलता न तजन्त ॥

विरोधाभास—

'सिर राखे सिर जात है'

कबीर की उलटवासियों में इसकी ध्वनि रहती है।

मालोपमा—

जल ज्यों प्यारा माछरी, लोभी प्यारा दाम ।
माता प्यारा बालका, भक्त पियारा नाम ॥

गोस्वामीजी ने भी इसी भाव को कुछ हेर-फेर से अपनाया है। रस की दृष्टि से उनके हठयोग के वर्णन केवल परिचय हैं किन्तु उनके विरह-निवेदन सम्बन्धी पद काफ़ी सरस हैं। छन्द की दृष्टि से चाहें कबीर में दोष दीखते हों किन्तु कबीर में कवि-हृदय अवश्य था।

भाषा—कबीर ने अपनी बोली को पूर्वी (बोली मेरी पुरब की) कहा है। उसमें पूर्वी प्रयोग जैसे सम्बन्धकारक में कर, केरा, क आदि क्रियाओं में दिहिन, खाइन, गैले, रंगैले, दीन्हा, आदि, अस, जस, तहँ आदि अव्ययों, मोर, तोर सर्वनाम की बहुतायत है किन्तु वास्तव में उनकी भाषा सधुक्कड़ी या खिचड़ी भाषा है। उनकी भाषा में पंजाबी, गुजराती, राजस्थानी के भी प्रयोग हैं। 'चन्दन होसी बावना नीम न कड़सी कोय' यह राजस्थानी का ही प्रभाव है। कुछ पद तो शुद्ध ब्रजभाषा के हैं जो सूर की भाषा से टक्कर ले सकते हैं। टक्कर लेने की दूसरी

बात रही, दो एक पद जैसे करमगति टारे नाँहिं टरी। मुनि बसिष्ठ से पंडित ज्ञानी सोध के लगन धरी ॥' कबीर और सूर में समान रूप से मिलते हैं। या तो इनको सूर ने कबीर से लिया या कबीरपन्थियों ने इनको कबीर के ग्रन्थों में मिला दिया। 'अपनपो आप ही बिसरों। जैसे सोनहा काँच मँदिर में भरमत भूँकि मरो।" यह पद भी ऐसा ही है। कबीर में खड़ी बोली के प्रयोग पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। 'अजब जमाना आया रे' 'इकप्रेम रस चाखा नहीं, अमली हुआ तो क्या हुआ' खड़ी बोली के अच्छे उदाहरण हैं। कबीर में कहीं-कहीं फ़ारसी-अरबी के शब्द जैसे अजब, फ़हम (समझ), वाकिफ़, गुल, चमन, दीदार प्रचुरता से मिलते हैं। एक दो स्थान पर 'कहत कबीर भी नहीं है' ' कहते कबीरा है' 'कहते कबीरा है सहीं, घट, घट में साहब रम रहा' यह तो शुद्ध हिन्दुस्तानी का नमूना है। इसलिये कबीर की भाषा को खिचड़ी कहना ही ठीक है।

उलटवासियों (जैसे पानी बिच मीन प्यासी अर्थात् ब्रह्म का अंश होते हुए भी जीव का अज्ञानी रहना अथवा बाप-पूत की नारि एक एकै माय बिआय, यहाँ नारी से अर्थ है माया) या सांकेतिक पदावली के सिवाय) जैसे लेजु सुषुम्ना नाड़ी के लिए, चरखा शरीर के लिए, पनिहारी इन्द्रियों के लिए, जल माया के लिए) कबीर की भाषा प्रसादगुणपूर्ण है। उसमें ओज और माधुर्य की कमी नहीं है।

———

२

प्रेम-पीर का प्रचारक मलिक मुहम्मद जायसी

जन्म-काल—मलिक मुहम्मद जायसी की जन्म-तिथि का अभी तक ठीक-ठीक निश्चय नहीं हो पाया है। हिन्दी के कुछ अन्य कवियों की भांति इस विषय में जायसी बिल्कुल मौन तो नहीं है। उन्होंने 'आखिरी कलाम' नामक अपनी पुस्तक में लिखा है—

भा औतार मोर नौ सदी।
तीस बरिस ऊपर कवि बदी॥

किन्तु इसका अर्थ स्पष्ट नहीं होता। यह कठिनाई इसलिए विशेष बढ़ जाती है कि जायसी की सभी पुस्तकें फ़ारसी लिपि में लिखी हुई मिली हैं, इससे पाठ की ठीक जानकारी नहीं हो सकती। फिर भी उक्त चरण के आधार पर यह अर्थ लगाया जा सकता है कि 'मेरा जन्म नवीं सदी में हुआ, और तीस वर्ष

हो जाने पर मैं कवि मान लिया गया'। यहां नवीं सदी ९०० हिजरी माननी होगी। इस हिसाब से जायसी का जन्म सन् १४९२ के लगभग ठहरेगा। इस वर्ष में जायसी का जन्म मानने से कई कठिनाइयां आती हैं, जैसे कवि ने पद्मावत में लिखा है:—

सन नव सै सत्ताइस अहा।
कथा-आरम्भ-बैन कवि कहा॥

पद्मावत ९२७ हिजरी में आरम्भ हुई। उस समय वे २७ वर्ष के ही रहे होंगे। फिर तीस 'बरिस ऊपर कवि बदी' का अर्थ कैसे लगेगा? अनुमान से यह कहा जा सकता है कि कवि ने ९२७ हिजरी में कविता लिखना आरम्भ किया होगा और उनकी पहली रचना पद्मावत ही होगी। तीन वर्ष में उन्होंने कवि होने की ख्याति प्राप्त कर ली होगी। पद्मावत आरम्भ करके कवि ने छोड़ दिया होगा, बीच में 'आखिरी कलाम' नाम की पुस्तिका लिखी होगी, क्योंकि 'आखिरी कलाम' में बाबर को बादशाह बतलाया गया है:—

बाबर शाह छत्रपति राजा।
राज-पाट उन कहँ विधि साजा॥

इसकी पुष्टि इसी पुस्तक में दिये हुए इस रचना-काल से भी हो जाती है:—

नौ सै बरस छतीस जो भए।
तब एहि कथा के आखर कहे॥

९३६ हिजरी में 'आखिरी कलाम' लिखा गया। उस

समय जायसी ३६ वर्ष के हुए। फिर 'पद्मावत' पूरा किया, क्योंकि पद्मावत में 'शाहे वक्त' उस काल के बादशाह 'शेरशाह' का उल्लेख है:—

सेरसाह देहली - सुलतानू,
चारिउ खंड तपै जस भानू।

*   *

जाति सूर औ खांड़े सूरा,
औ बुधि-वंत सवै गुन पूरा।

शेरशाह का शासन-काल ६४७ हिजरी से आरम्भ हुआ अतः पद्मावत शेरशाह के शासन में लिखा गया होगा। उसमें शेरशाह के शौर्य और प्रताप का अत्यन्त प्रभावोत्पादक वर्णन किया गया है:—

वरनौं सूर भूमि-पति राजा,
भूमि न भार सहै जिहि साजा।

*   *   *

जो गढ़ नएउ न काहुहि, चलत होइ सो चूर।
जब वह चढ़ै भूमिपति, सेरसाहि जग-सूर।।

*   *   *

गऊ सिंह रेंगहिं एक बाटा,
दूनौ पानि पियहिं एक घाटा।

किन्तु यह कठिनाई अब नहीं रही। गंभीर दृष्टि से पाठ पर ध्यान देकर विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि पद्मावत का यह पाठ 'सन् नवसौ सत्ताइस' नहीं है, सन् नवसौ सैंतालीस है।

यह पाठ ही विशेष मान्य प्रतीत होता है, इसके ऊपर जिन कठिनाइयों का उल्लेख किया गया है, वे नहीं रहतीं। ६४७ में पद्मावत लिखा गया इसी सन् में शेरशाह का राज्य स्थापित हुआ। जायसी का जन्म ६०० हिजरी भी अब ठीक प्रतीत होता है।

किन्तु यहां एक बड़ी अड़चन उपस्थित होती है। काजी नसरुद्दीन हुसैन जायसी ने अपनी याददाश्त में जायसी का मृत्यु-काल ४ रजब ६४६ हिजरी दिया है। यदि उसे ठीक मान लिया जाय तो जायसी की मृत्यु ४६ वर्ष की अवस्था में हुई। इस समय शेरशाह को राज्य करते दूसरा वर्ष होगा। दूसरे ही वर्ष में उसका वैसा प्रताप संभव नहीं, जैसा जायसी ने लिखा है। और न यही संभव है कि इसी वर्ष पद्मावत समाप्त करली हो। इसकी संगति पद्मावत के उपसंहार में वर्णित वृद्धावस्था से तो किसी भी प्रकार नहीं बैठती। पद्मावत के अंत में जायसी ने कहा है:—

मुहमद बिरिध बैस जो भई।
जोबन हुत, सो अवस्था गई॥
बल जो गएउ कै खीन सरीरू।
दृष्टि गई नैनहिं देह नीरू॥
दसन गए कै पचा कपोला।
बैन गए अनरुच देह बोला॥ आदि,

४६ वर्ष की अवस्था में ऐसी दशा किसी भी व्यक्ति की नहीं हो सकती। अतएव जब तक कोई अन्य अत्यन्त

प्रमाणित साक्षी नहीं मिलती, यह मृत्यु समय की विषमता ऐसी ही बनी रहेगी।

निवास-स्थान—इस सम्बन्ध में जायसी ने पद्मावत में लिखा है :—

जायस नगर धरम अस्थानू
तहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू

और "आखिरी कलाम" में उल्लेख है कि:—

"जायस नगर मोर अस्थानू
नगर के नाँव आदि उदयनू
तहाँ दिवस दस पहुने आएउँ
भा वैराग बहुत सुख पाएउँ"

इन उल्लेखों से यह विदित होता है कि जायसी 'जायस' के रहने वाले थे, उन्होंने वहीं रह कर काव्य-रचना की, किन्तु साथ ही यह भी सूचित होता है कि वे वहाँ कहीं से आकर बसे थे, 'तहाँ आइ' शब्दों से यही अर्थ निकल सकता है। 'आखिरी कलाम' से यह भी प्रकट होता है कि वे वहाँ दस दिन के लिए महमान होकर आये थे, किन्तु वहाँ सत्संग का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वहीं रम गये, उन्हें वैराग्य उत्पन्न हुआ, जिससे वे बड़े सुखी हुए। यह सत्संग उन चार मित्रों का हो सकता है जो उन्हें जायस में मिले थे जिनके साथ रहकर जायसी की वही दशा हुई थी जो अन्य वृक्ष की चन्दन के वृक्षों के पास रहने से होती है :—

"विरिछ होइ जौ चन्दन पासा
चन्दन होइ बेधि तेहि वासा"

यहीं पर उन्हें सूफी फकीरों का संपर्क मिला, और वे उनके शिष्य हो गये। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि जायसी २५-२६ की अवस्था तक कहीं और थे, वहाँ से जायस आये और वहीं रम गये। किन्तु जायस में प्रचलित मान्यता के आधार पर शुक्ल जी ने कहा है कि जायसी जन्म से ही जायस के थे। उनके चारों मित्रों की जन्म-भूमि भी जायस ही थी। यदि यह मत माना जाय तो जायसी के अपने कथनों का अर्थ लाक्षणिक दृष्टि से लगाना होगा। 'तहाँ आइ' और 'तहाँ दिवस दस पहुँने आएऊँ' का अर्थ करना होगा 'जन्म लिया', कुछ 'काल के लिए जायस में आकर जन्म ग्रहण किया'—'दस दिन के महमान' होना मुहावरा की भाँति माना जा सकता है। प्रश्न केवल यही उठता है कि 'जायसी' यदि जन्म से ही जायस के निवासी नहीं थे तो उन्होंने अपने पहले के निवास-स्थान अथवा जन्म-भूमि का नाम क्यों नहीं दिया ? यदि वे जायस के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र पैदा हुए होते तो उसका भी नाम अवश्य देते। किसी अन्य स्थान के नाम का उल्लेख न होने से भी यह माना जा सकता है कि वे जायस के ही रहने वाले थे, वहाँ आकर बसे नहीं थे। इस सम्बन्ध में भी यथार्थतः किसी अन्तिम निश्चय पर पहुँचने से पूर्व अन्य प्रामाणिक साक्षियों की आवश्यकता है। जायसी की कब्र अमेठी राज्य में बनी हुई है।

जायसी के गुरु—जायसी ने पद्मावत, अखरावट तथा आख़िरी कलाम इन तीनों पुस्तकों में अपने गुरुओं के सम्बन्ध में सूचना दी है। उससे यह तो निश्चय विदित होता है कि उनके गुरु निजामुद्दीन औलिया की शिष्य-परम्परा में थे। निजामुद्दीन औलिया की शिष्य-परम्परा दो शाखाओं में बँट गयी थी—एक मानिकपुर-कालपी वाली, दूसरी जायस वाली। कवि ने मानिकपुर कालपी वाली शाखा की परम्परा का कुछ विस्तार से उल्लेख किया है और उसके कितने ही नाम दिये हैं, किन्तु जायस वाली परम्परा के दो-तीन नाम ही दिये हैं। इससे यह अनुमान होना स्वाभाविक ही है कि जायसी मानिकपुर-कालपी वाली परम्परा के शिष्य होंगे। किन्तु कुछ गम्भीर विचार करने पर पता चलता है कि सैयद अशरफ़ के प्रति उनका विशेष आदर-भाव था। सैयद अशरफ़ का नाम उन्होंने तीनों ग्रन्थों में लिया है, 'आख़िरी कलाम' में केवल इन्हीं का नाम है :—

"मानिक एक पाएउँ उँजियारा
सैयद अशरफ़ पीर पियारा"
जहाँगीर चिस्ती निरमरा,
कुल जग महँ दीपक विधि धरा।
तिन्ह घर हौं मुरीद सो पीरू॥

इन्होंने पीर केवल सैयद अशरफ़ जहाँगीर को ही बताया है। अतः इनके दीक्षा-गुरु सैयद अशरफ़ ही थे :—

"सैयद अशरफ़ पीर पियारा
जेइ मोहि पन्थ दीन्ह उजियारा।"

सैयद अशरफ़ के द्वारा उन्हें पन्थ का ज्ञान हुआ, और इसी नाते वे निजामुद्दीन औलिया की समस्त शिष्य-परम्परा में गुरु-भाव रखते थे।

ग्रन्थ-निर्माण—जायसी ने तीन ग्रन्थ बनाये; पद्मावत, अखरावट तथा आख़िरी कलाम।

ऊपर इन ग्रन्थों के निर्माण-काल पर कुछ विचार हो चुका है। इन ग्रन्थों में से पद्मावत तथा आख़िरी कलाम में ग्रन्थारम्भ की तिथियाँ दी हुई हैं। पद्मावत में लिखा है—

सन नव सै सैतालिस अहा। कथा अरम्भ बैन कवि कहा॥
सन् ६४७ हिजरी (१५३६ ई०)

आखिरी कलाम में दिया है—

नौ सै बरस छत्तीस जो भए। तब एहि कथा के आखर कहे॥

सन् ६३६ हिजरी (१५२८ ई०) में आख़िरी कलाम आरम्भ किया गया। किन्तु जैसा ऊपर बताया गया है आख़िरी कलाम में तो बाबर का वर्णन है, वह ठीक है, पर पद्मावत में शेरशाह सूर का वर्णन है। 'अखरावट' पद्मावत के बाद लिखा गया, ऐसा विदित होता है।

'आख़िरी कलाम' में कवि ने सृष्टि के अन्त और मुहम्मद साहब के महत्त्व का वर्णन किया है। प्रलय-काल के समय क्या अवस्था होती है, विविध फरिश्ते मैकाइल, जिबराईल, इसराफ़ील,

अजराइल आदि इस प्रलय में क्या करते हैं, तथा फिर किस प्रकार 'आप गोसाईं' की इच्छा से ये चारों फरिश्ते पुनरुज्जीवन प्राप्त करते हैं, मुहम्मद को ढूँढ कर कहा जाता है चलो अपनी उम्मत लेकर चलो। वहाँ न्याय होगा। पापियों को नरक में डाल दिया जायगा। मुहम्मद साहब को बड़ी चिन्ता होती है, वे अपनी उम्मत को पार पहुँचाने के लिए आदम, मूसा, ईसा, इब्राहीम, नूह सभी के पास गये, कोई भी उम्मत को पार पहुँचाने में सहायक नहीं हो सके, सभी अपनी-अपनी परेशानी की शिकायत करने लगे, तब रसूल ने स्वयं 'गोसाईं' से ही प्रार्थना की कि मेरी उम्मत की किसी को चिन्ता नहीं। आप मेरी उम्मत को जो दुःख देना चाहते हैं, वह मुझे दीजिये, मैं उनका दुःख अपने ऊपर लेता हूँ. पर उम्मत को मोक्ष दीजिए। विधि ने कहा—फातिमा को ढूँढो, उससे कहो कि वह क्रोध छोड़ दे।

अपने पिता रसूल के दुःख को देख कर फातिमा शान्त हो गई। विधाता ने नबी की बात मान कर समस्त उम्मत को नबी के साथ बहिश्त भेजने की योजना की। रसूल ने समस्त उम्मत की 'ज्यौनार' की। अद्भुत भोजन थे, अमृत पीने को भर-भर कटोरा दिया गया। तब रसूल ने 'गोसाईं' से कहा कि जबतक आपके दर्शन सब को नहीं हो जाते, हम बहिश्त में नहीं जायँगे। विधाता ने प्रसन्न होकर दर्शन दिया। तब जिबराइल दूलह मुहम्मद को उनकी समस्त उम्मत की बरात के साथ बहिश्त में ले चला, वहाँ अप्सरायें मिलीं; विविध भवन सोने रूपे के

मिले। वहाँ सब आनन्द और सुख था—

तहाँ न मीचु, न नींद दुख, रह न देह में रोग।
सदा अनन्द 'मुहम्मद' सब सुख मानैं भोग॥

'पद्मावत' में एक प्रेम-कहानी है, जिसका पूर्व-भाग लोक-वार्ता है और उत्तर भाग ऐतिहासिक आधार पर है। लोक-वार्ता वाला भाग सिंहलद्वीप की रानी पद्मावती को प्राप्त करने के उद्योग से सम्बन्ध रखता है। चित्तौड़ के राजा रत्नसेन ने तोते से पद्मावती का सौन्दर्य सुना और मुग्ध होकर उसे पाने के लिए सिंहल को चल पड़ा। तोते के सहयोग से, अनेकों कष्ट झेलते हुए भी, अन्त में शिवजी की कृपा पाकर पद्मावती से रत्नसेन का विवाह हुआ। रत्नसेन चित्तौड़ आया। ऐतिहासिक आधार अब यहाँ से आरम्भ होता है। पद्मावती से रुष्ट होकर राघव चेतन अलाउद्दीन खिलजी के दरबार में गया। उससे पद्मावती के रूप की प्रशंसा की। अलाउद्दीन ने पद्मावती को प्राप्त करने के लिए चित्तौड़ पर चढ़ाई की, तब गोरा बादल ने रक्षा की। वे कौशल से रत्नसेन को अलाउद्दीन के फन्दे से भी छुड़ा लाये थे। रत्नसेन की अनुपस्थिति में देवपाल पद्मावती से प्रेम-याचना करता है; जब रत्नसेन को विदित होता है तो वह देवपाल का सिर काट लेता है, किन्तु देवपाल के आघात से उसके भी प्राण-पखेरू उड़ जाते हैं। पद्मावती और नागमती दोनों रानियाँ सती हो जाती हैं। इतिहास में देवपाल और राघव चेतन की घटना नहीं मिलती, यह भी कवि ने अपने काव्य की

दृष्टि से कल्पित करके लिखी है।

अखरावट—अखरावट लिखने की प्रणाली प्राचीन है। 'कबीर की बारहखड़ी' प्रसिद्ध ही है। इसी परिपाटी में यह अखरावट है। इसमें वर्णमाला में आये अक्षरों के क्रम से रचना की जाती है। वर्णमाला का अक्षर पहले देकर फिर उसी अक्षर से आरम्भ करके छन्द लिखा जाता है। इस प्रणाली में बहुधा धर्म के सिद्धान्तों का ही उल्लेख रहता है। जायसी के अखरावट में भी यही बात है। सृष्टि-रचना और ब्रह्मतत्व के साथ गुरु और धर्म-आचार की व्याख्या इसमें की गई है।

जायसी के इन सभी ग्रन्थों में पद्मावत का महत्व अद्वितीय है और वे पद्मावत के कारण ही हिन्दी-साहित्य में अपना विशेष स्थान प्राप्त कर सके हैं।

प्रेम-गाथा-काव्य—पद्मावत प्रेम-गाथा है। प्रेमगाथाओं की हिन्दी में एक लम्बी परम्परा मिलती है, जिसका आरम्भ जायसी के पद्मावत से पूर्व हो चुका था स्वयं जायसी ने विक्रम और स्वप्नावति, श्री भोज और खँडरावति, मृगावती तथा मधुमालती नामक प्रेम-गाथाओं का नाम स्मरण किया है। संस्कृत तथा प्राकृत में भी प्रेम-कथा की परिपाटी पुराने समय से रही है। नल और दमयन्ती में 'हंस' ने माध्यम बन कर 'नल' को 'दमयन्ती' के लिए वर बनाया था। ऐसी ही और भी कई कहानियाँ हैं। जायसी के उपरान्त तो और भी कितने ही कवि हुए जिन्होंने प्रेम-गाथाएँ लिखीं। ये सभी गाथाएँ अधिकांशतः लोक-वार्ता से

ली गयी हैं, प्रचलित जन-कहानियों को साहित्यिक रूप दे दिया गया है। जिनमें कभी कहीं ऐतिहासिकता भी आई है तो वह भी वहुत विकृत होकर, कवि की कल्पना द्वारा रूप बदल कर, जैसे जायसी के पद्मावत में। इन सभी प्रेम-गाथाओं की कथावस्तु का ढाँचा एक-सा है। 'एक राजा किसी सुन्दरी पर गुण-श्रवण, चित्र-दर्शन या स्वप्नदर्शन से प्रभावित होकर आसक्त हो जाता है। वह उसे पाने के लिए निकल पड़ता है। एक सहायक या मार्ग-दर्शक उसे मिल जाता है। बड़ी कठिनाई से वह अपने अभीष्ट को प्राप्त कर पाता है, प्राणों को अनेकों वार संकट में डाल कर ही वह सफल हो सकता है। युद्ध की भी नौवत आ जाती है।' इन प्रेम-कहानियों में कई वातें विशेष दृष्टव्य हैं—

१—राजकुमार और राजकुमारी में अप्रत्यक्ष प्रेम। यह प्रेम इस मान्यता को सिद्ध करता है कि वह आकस्मिक नहीं, या तो विधि-विधान है या पूर्व-जन्म के संस्कार से सम्बन्धित है।

२—प्रिय को प्राप्त करने के लिए अपने समस्त वैभव का त्याग और यात्रा। इस यात्रा में अनेकों आकर्षक और रोमांचक घटनाएँ तथा सङ्कट आते हैं, जिनसे नायक वाल-वाल वच जाता है।

३—नायक को एक सहायक भी मिल जाता है, यह राज-कुमारी का भेजा हुआ दूत या दूती हो सकता है। कोई पक्षी विशेषतः तोता भी यह काम कर सकता है।

४—नायक के प्रेम की बड़ी कठिन परीक्षाएँ होती हैं।

५—अन्त में राजकुमारी उसे मिल जाती है।

जायसी के पद्मावत में ये सभी तत्व मिलते हैं, पर उनकी कहानी यहीं नहीं रुक जाती। वह एक विशेष उद्देश्य से आगे भी बढ़ती है। हिन्दी-प्रेम-गाथाओं के लेखक प्रायः सभी सूफ़ी हुए हैं उन्होंने प्रेम का सन्देश ही इन गाथाओं के द्वारा दिया है। प्रेम की प्राप्ति हो जाने पर मानव-उद्योग की समाप्ति होजानी चाहिए, जैसे ब्रह्म की प्राप्ति पर हो जाती है। जायसी केवल प्रेम की प्राप्ति से ही सन्तुष्ट नहीं होते, और न वे वहीं तक मानव की इतिकर्तव्यता मानते हैं। प्रेम को प्राप्त करना भी कठिन है और अत्यन्त कठिन है; वह साधना से मिलता है पर प्रेम प्राप्त हो जाने के उपरान्त, संयोग हो जाने के उपरान्त उसे अक्षुण्ण रखना और विकृत न होने देना भी सरल नहीं। मानव को प्रेम की रक्षा करने में भी पूर्ण समर्थ होना चाहिए, अन्यथा पूर्व उद्योग का कोई महत्व नहीं। प्रेम की प्राप्ति के मार्ग की कठिनाइयाँ तो साधन-पक्ष की कठिनाइयाँ हैं, वे बहुधा आकस्मिक हैं और मार्ग के अज्ञात होने के कारण भी हैं। सिद्धि प्राप्त हो जाने के उपरान्त की कठिनाइयाँ और सङ्कट, ईर्ष्या और षडयन्त्र से उत्पन्न होती हैं। साधना-मार्ग में दैव की अनुकम्पा भी सहायक हो सकती है, सिद्धि के उपरान्त तो अपने बाहु-बल से ही रक्षा हो सकती है। यह प्रेम का मर्म जायसी ने अपने पद्मावत के दूसरे खण्ड में, अर्थात् पद्मावती को चित्तौड़ ले आने के बाद के प्रसङ्ग में प्रकट किया है। अतः जायसी कथा-वस्तु में गर्भित उक्त मर्म की दृष्टि से प्रेम-गाथा-

काव्य की परम्परा में एक विशिष्ट स्थान वना लेते हैं।

ये सभी प्रेम-गाथाएँ अवधी-भाषा में लिखी गयी हैं, और विना अपवाद के दोहा-चौपाई छन्द में हैं। इस दृष्टि से ये गाथाएँ तुलसीदासजी की रामायण की पूर्वगामिनी हैं।

जैसे जायसी के पद्मावत में वैसे ही अन्य प्रेम-गाथाओं में प्रबन्ध-विधि फारसी की मसनवियों से ली गयी है। मसनवियों में आरम्भ में ईश्वर, पैगम्वर उनके चार मित्र तथा तत्कालीन शासक का उल्लेख अवश्य होता है। प्रवन्ध को अध्यायों में अथवा सर्गों में नहीं बाँटा जाता, कथा एक क्रम से चलती रहती है, बीच-बीच में सुविधा के लिए केवल वर्णित-विषय का उल्लेख करते हुए उपशीर्षक दे दिये जाते हैं, जैसे गोरा-वादल-खंड।

प्रेम-गाथा की परम्परा—प्रेम-गाथाएँ मूलतः लोकवार्ताएँ ही हैं, इनका सम्बन्ध नाममात्र किसी ऐतिहासिक राजा से कर दिया जाता रहा है। इस रूप में साहित्य में इनका प्रयोग हमें 'पृथ्वीराज-रासो' में भी मिलता है। पृथ्वीराज रासो के 'पद्मावती खण्ड' की कथा में प्रेम-गाथा के प्रायः सभी तत्व मिल जाते हैं। पद्मावती पृथ्वीराज का गुण-श्रवण कर उन पर अनुरक्त हो जाती है, अपने तोते को सन्देश लेकर पृथ्वीराज के पास भेजती है। पृथ्वीराज आता है, और पद्मावती को प्राप्त करता है। किन्तु 'रासो' का यह उदाहरण यथार्थ रूप में प्रेम-गाथा की परम्परा में नहीं आता, इसमें प्रेमगाथाओं की भाँति कोई धार्मिक या आध्यात्मिक लक्ष्य नहीं। यह तो केवल यह सिद्ध करता है कि यह प्रेम-गाथा लोक में

अत्यन्त प्रचलित थी, उसी प्रचलित कथा को चन्द ने अपने महा-काव्य में एक छोटा-सा स्थान दे दिया, और उसी कथा के विविध रूपान्तरों को आगे चल कर सूफ़ी साधकों ने स्वतन्त्र प्रेम-गाथा का रूप दिया। जायसी ने अपने से पूर्व की प्रेम-गाथाओं का उल्लेख किया है, जिसमें से 'विक्रम और स्वप्नावती' तथा 'भोज और खण्डरावती' का तो अभी तक पता नहीं लगा, किन्तु मृगावती और मधुमालती मिल चुके हैं। जायसी के बाद भी यह परम्परा निरन्तर कुछ काल तक रही। इन बाद के प्रेम-काव्यों में नूरमुहम्मद की इन्द्रावती, उसमान की चित्रावली, आलम की माधवानल-कामकन्दला तथा शेख निसार की यूसुफ़-जुलेखा विशेष प्रसिद्ध हैं। कुछ हिन्दुओं ने भी इस परम्परा को अपनाया था।

गाथाओं का उद्देश्य—इन प्रेम-गाथाओं का काल बाबर के समय से मुग़ल-साम्राज्य के अन्त तक का माना जा सकता है। राजपूत-काल में चारण-काव्य अथवा वीर-गाथा काव्य लिखे गये। मुसलमानों के राज्य स्थापित होने के उपरान्त से मुग़ल-साम्राज्य की स्थापना के मध्य का समय प्रायः ज्ञानवादी सन्तों और सिद्धों का युग है। यह ज्ञान भी तत्कालीन ऐतिहासिक प्रवृत्ति के कारण था हिन्दू और मुसलमानों के समन्वय की भावना से। किन्तु निराकार अद्वैत को शुष्क ज्ञान के माध्यम से लोकप्रिय नहीं बनाया जा सका। सूफ़ियों ने तब प्रेम का सन्देश दिया। मुग़ल-साम्राज्य में जो सहानुभूतिपूर्ण वातावरण बाबर के समय

से ही आरम्भ हुआ था, उसने सभी को उस समय उदार बना दिया। उसी उदारता का साहित्यिक रूप प्रेम की पीर का संदेश बन गया। सबके प्रति सहिष्णुता, सबमें समन्वय और सबमें संग्राहक बुद्धि का उदय इस युग की विशेषता थी। ये सभी तत्व जायसी में जितने स्पष्ट हुए हैं और जितनी शक्ति के साथ हुए हैं उतने दूसरी प्रेम-गाथाओं में नहीं हुए। अतः प्रेम-गाथाओं में युग की साधना ही सिद्ध हुई, और उसके प्रतिनिधि हुए जायसी। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जायसी ने यह प्रेम-गाथा क्यों लिखी? साधारणतः निम्नलिखित उद्देश्य कल्पित किये जा सकते हैं—

१—जायसी सूफ़ी फ़कीर थे, उन्होंने अपने धार्मिक विचारों और अपने दर्शन को प्रकट करने का ही माध्यम पद्मावती को बनाया।

२—जायसी प्रधानतः कवि थे और अपने काव्य का चमत्कार दिखाने के लिए ही उन्होंने यह प्रबन्ध-कल्पना की, इसमें उनका कोई अन्य विशेष उद्देश्य नहीं था।

३—जायसी कवि भी थे और फ़कीर भी, उन्होंने यह प्रेम-गाथा अपने काव्य-कौशल के साथ धर्म-प्रवृत्ति को उपस्थित करने के लिए लिखी। उन्होंने दोनों का सामञ्जस्य किया और एक ही ढेले से दो शिकार किये।

पद्मावत का उद्देश्य—जब हम पद्मावत के अन्त में कवि की घोषणा पढ़ते हैं तो ऐसा विदित होता है कि पद्मावत की

कल्पना में कवि का मुख्य उद्देश्य धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तों को ही प्रस्तुत करना था। जायसी ने पद्मावत में अन्त में कहा है—

'एक दूसरे के ऊपर नीचे जो चौदह भुवन हैं वे सभी मनुष्य शरीर में हैं। शरीर चित्तौड़ है, मन राजा है, हृदय सिंघल है, बुद्धि पद्मिनी है, गुरु तोता है, नागमती प्रपञ्च (दुनिया धन्धा) है, राघव शैतान है, अलाउद्दीन माया है' और तब—

प्रेम कथा एहि भाँति बिचारहु।
बूझि लेहु जो बूझै पारहु॥

अर्थात् पद्मावत एक रूपक मात्र है, इसमें रत्नसेन पद्मावती की कहानी नहीं है, यथार्थ में मन और बुद्धि की कहानी है। इस दृष्टि से जब हम काव्य का अनुशीलन करते हैं तब हमें विदित होता है कि विस्तार से देखने में यह रूपक पूरा नहीं उतरता। पद्मिनी यदि बुद्धि है तो उसकी माता चम्पावति और पिता कौन हैं? राजा रत्नसेन का उद्योग पद्मावती को प्राप्त करने के लिए घोर साधना के समान है। यह समस्त साधना पद्मावती के लिए है, तो पद्मावती 'ब्रह्म' होनी चाहिए। ब्रह्म प्रेममय है, यह तो ठीक है, पर उसी के पास हीरामन सुआ है—जो गुरु है। फिर पद्मावती को प्रिय की आवश्यकता क्यों प्रतीत होती है? रूपक में उसकी जवानी को क्या स्थान मिलेगा। उसके समीप रहने वाले 'हीरामन' को मृत्यु-मार्जारी का भय क्यों? और कैसे मार्जारी वहाँ पहुँची? आरम्भ में ही

ये ऐसे प्रश्न हैं जिससे पद्मावती की वह रूपक-कल्पना विस्तार में ठीक नहीं बैठती जिसकी ओर जायसी ने संकेत किया है।

किन्तु इसका यह भी अभिप्राय नहीं कि जायसी ने यह प्रेम-कथा केवल कथा के लिए कही। इसका प्रतिवाद स्वयं पद्मावती के उपर्युक्त उल्लेख से हो गया है। यही नहीं, कवि के वर्णनों में स्थान-स्थान पर जो विराट भावना झाँक उठती है—

भौंहैं स्याम धनुष जनु ताना।
जासहुँ हेर मार विष वाना॥
उहै धनुक किरसुन पहँ अहा।
उहै धनुक राघौ कर गहा॥
गगन नखत जो जाहिं न गने।
वै सब बान ओही के हने॥

कहीं कहीं गढ़ों का वर्णन करते समय जो शरीर का रूपक-सा दीख पड़ता है:—"पौरी नवौ बज्र कै साजी

* * *

फिरहिं पांच कोतवार सुभौंरी

* * *

नव पौरी पर दसवँ दुवारा

कहीं-कहीं व्यष्टि की समष्टि में व्यापकता का भाव व्याप्त दीखता है: तुम्हरी जोति जोति सबकाहू।—इन सबसे यह स्पष्ट लक्षित होता है कि जायसी का पद्मावत भले ही अध्यात्म के लिए पूर्ण रूपक न हो, किन्तु उसके कथा-विधान में वह

अध्यात्म विन्यस्त अवश्य है। उन्होंने कथा और काव्य के सुसंयोजन से जो वस्तु दी है, वह अन्तरतः अध्यात्म की भावनाओं से ओत-प्रोत है। इस अध्यात्म ने रहस्य का रूप धारण कर लिया है। कवि की विशेषता यह है कि इस अध्यात्म के साथ भी उसने कथा भाग की उपेक्षा नहीं की। इसीलिए शुक्लजी ने इसे 'अन्योक्ति' न कह कर 'समासोक्ति' कहा है।

जायसी में रहस्यवाद—पद्मावत की कथा में भी अध्यात्म है, और उसमें आने वाले विविध स्थलों में भी। इन दोनों में अन्तर है। कथा में तो मुमुक्षु आत्मा के उद्योगों का इतिहास है, विविध स्थलों में झांकने वाला अध्यात्म बार-बार पार्थिव-सृष्टि की सीमाओं का उलंघन कर असीम और विराट् की ओर व्यग्र प्रधावित हो उठता है। मुमुक्षु के उद्योगों के रूप में कथा को यों कहा जा सकता है। प्रेम ही वह मूल-तत्व है, जो पद्मावती कहा गया है। प्रेम ही ब्रह्म है; ब्रह्म ही प्रेम है, ऐसी मान्यता यहां विद्यमान है। जायसी ने इस प्रेमतत्व को उसके प्रधान-साधन बुद्धि से तादात्म्य करके उसकी व्याख्या में उसे बुद्धि ही कहा है। यह तादात्म्य उसके प्रेम को भक्ति-लोक की वस्तु नहीं रहने देता, वह मूलतत्व अतः निराकार हो जाता है, किन्तु वियुक्त आत्मा के लिए उसकी सत्ता उतनी ही निश्चित है, जितनी 'पद्मावती' की। रत्नसेन वह वियुक्त आत्मा है, उसे माया ने विमोहित कर लिया है। गुरू के रूप में तोता उसे उस माया से विरक्त कर देता है, और प्रेम को

पीर पैदा कर देता है। प्रत्येक आत्मा ईश्वर से वियुक्त होकर भ्रम में पड़ी हुई दिन काटती रहती है, किन्तु जब प्रेम की पीर जागृत हो उठती तो उसे एक घड़ी एक पल के लिए चैन नहीं पड़ता।

औ सँवरौं पदमावति रामा। यह जिउ नेवछावर जेहि नामा॥

तथा

आसन लेइ रहा होइ तपा। 'पदमावति पदमावति' जपा॥
मन समाधि तासौं धुनि लागी। जेहि दरसन कारन बैरागी॥
रहा समाइ रूप औ नाऊँ। और न सूझै बार जहँ जाऊँ॥

वह प्रेम के कठिन मार्ग में चल पड़ता है—प्रेम का मार्ग सरल नहीं है—वह तलवार की धार पर चलने के समान है, किन्तु साधक आत्मा रुक नहीं सकती, वह समस्त आपत्तियों को सह कर भी गुरु की सहायता से मार्ग पाती जायगी, और अन्त में उस प्रेममयी बुद्धि को प्राप्त कर लेगी। यह समस्त उद्योग साधनावास्था का उद्योग है। कवि ने साधनावस्था के खतरों का बड़ी विशदता से वर्णन किया है। सिद्धावस्था भी खतरे से रहित नहीं है। बुद्धि और आत्मा के इस मिलन को शैतान कब पसंद कर सकता है, वह प्रपंच अथवा माया को बुला कर षड्यंत्र ही नहीं करता, बुद्धि को अपहृत करने का भी घोर प्रयास करता है। शैतान से प्रेरित माया तो बुद्धि को मन से पृथक् ही कर देना चाहती है; पर इस बुद्धि का शत्रु घर में ही है। यह है प्रपंच। यह बुद्धि का प्रतिद्वन्द्वी तत्व है। बुद्धि और प्रपंच में यदाकदा संघर्ष

भी हो जाता है। सिद्धावस्था में भी सिद्ध को बहुत सावधान रहने की आवश्यकता है। इन सब स्थितियों में तो कवि ने कथा के द्वारा रहस्य को स्थूल रूप देकर उस रहस्य की प्राप्ति और उपभोग का मर्म चित्रित किया है। किन्तु कवि में रहस्य के विराट् भाव का जो उदय स्थल स्थल पर हुआ है; उन स्थलों से यह स्पष्ट विदित होता है कि कवि में एक आन्तरिक तड़प है, और उनकी भावना प्रत्यक्षीकरण के लिए जड़ सीमाओं को लाँघकर रहस्य की ओर बढ़ती है। यह प्रत्यक्षीकरण की चेष्टा स्थूल और मूर्त जगत् के उपादानों में से ही रहस्य की विराटता और व्यापकता देख पाती है। पद्मावती को रत्नसेन 'राम' के रूप में देखता है, उसके विरह से पीड़ित है—

जागा विरह तहाँ का गूढ़ माँसु कै हान ?
हौं पुनि सांचा होइ रहा ओहि के रूप समान ॥

विरह का मूल्य—जायसी के मत में 'विरह' बड़ा महत्त्वपूर्ण साधन है। 'विरह' प्रेम की पीर का ही नाम है। विरह जिसमें उदय हो जाय वह बड़ा भाग्यशाली है। किन्तु विरह क्या प्रत्येक में पैदा हो सकता है : 'तन तन विरह न उपनै सोई'—पर जब विरह उत्पन्न हो जाता है, तब तो दशा ही कुछ और हो जाती है-'जेहि उपना सो औटि मरि गएऊ, जनम निनार न कबहूँ भएऊ।' यह विरह-पीड़ा ही मुमुक्षु की जागृत अवस्था कही जा सकती है। किन्तु जायसी ने इस विरह को केवल साधनापक्ष में ही नहीं रखा, साध्यपक्ष में भी उसकी उतनी ही उग्रता मिलती है। पद्मावती रत्नसेन के लिए

'राम' है, वह तो विरह से दग्ध होता ही है, पद्मावती भी उससे कम दग्ध नहीं होती। दोनों दिशाओं में अत्यन्त स्पंदनशील विरह, जिसमें पीड़ा की पराकाष्ठा है, जिसकी दग्धता की अनुभूति से जायसी में कभी विषधर सर्प, कभी चन्दन में व्याप्त अग्नि, कभी वज्राग्नि की प्रज्वलित कल्पनाएँ उमड़ने लगती हैं और कह उठता है—

विरह वजागि वीच का कोई, आगि जो छुवै जाइ जरि सोई।
आगि बुझाइ परे जल गाढ़े, वह न बुझाइ आपु ही बाढ़े॥
विरह के आगि सूर जरि काँपा· रातिहि दिवस जरै ओहि तापा।
खिनहि सरग, खिन जाइ पतारा, थिर न रहै एहि आगि अपारा॥

यह विरह अवश्य ही अलौकिक है, और प्रेम की यथार्थ अन्तर्गति है। समुद्र प्रेम है, विरह उसकी लहरें। इसी कारण ये पारस्परिक हैं। किन्तु जायसी ने प्रेम-परिल्पुत रहस्य का अनुभव कर लिया है। उसका रहस्य-वर्णन कल्पना का व्यापार-मात्र नहीं, वह कवि की वैसी ही आन्तरिक और निश्चित अनुभूति है, जैसी कबीर को हुई थी। कबीर ने उस अनुभूति पर गर्व किया है जायसी ने उसे अत्यन्त दृढ़ता से प्रकट कर दिया है। उनकी दृष्टि बार बार इस स्थूल सृष्टि की मायावी प्राचीरों को पार कर असीम की व्यापक सत्ता के आश्चर्य और विराट् को देखने लगती है। इस शैली से वह वियुक्त जीव में विरह की तड़प पैदा कर देना चाहता है और उन्हें उस रहस्य की ओर उन्मुख कर देना चाहता है।

इस रहस्य के लिए विरह तो साधना की जाग्रतावस्था है, एक प्रवृत्ति है। जायसी ने उस प्रेम-साध्य की साधना के मार्गों का भी निर्देश किया है। इस निर्देश में वह साम्प्रदायिक संकीर्णता का शिकार नहीं हुआ। हठयोग के हिन्दू-सिद्धान्तों के अनुसार भी उसने 'गढ़'-शरीर में नौ पौरी, पांच कटुवारा, तथा 'दसवें' गुप्त द्वार का उल्लेख किया है। सूफ़ी सम्प्रदाय के अनुसार चारों अवस्थाओं तथा चारों मुकामों की भी उपेक्षा नहीं है। सूफ़ियों के अनुसार चार अवस्थाएँ हैं:—१—शरीअत, २—तरीक़त, ३—हक़ीकत, ४—मारफ़त। पद्मावत में जायसी ने लिखा है 'चारि बसेरे सौं चढ़ै, सत सों उतरै पार"। ये चार बसेरे उपरोक्त चार अवस्थाओं में भी हो सकती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि कबीर की भाँति जायसी पर भी हिन्दू-प्रभाव विशेष था। यह प्रभाव जैसा कुछ विद्वान मानते हैं कबीर के कारण नहीं था। जायसी में ऐसे कोई विशेष संकेत नहीं जिनसे यह माना जा सके कि उन पर कबीर का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव था। रहस्य की भावना और उसकी साधना दोनों ही दृष्टियों से जायसी कबीर से भिन्न मत रखते हैं। जायसी में कबीर की भाँति अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा, उन्हीं प्रभावों के कारण हैं जिन्होंने कबीर को प्रभावित किया था। उसका प्रेम-मार्ग ज्ञान-मार्ग के संशोधन के रूप में ही नहीं, हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की सामयिक समस्या के लिए भी है। उन्होंने बताया है कि—

बिरिछ एक लागीं दुइ डारा, एकहिं तें नाना परकारा।
मातु के रक्त पिता के बिन्दू, उपने दुवौ तुरुक औ हिंदू॥

यहां पर इस कुशल कवि ने एक वृक्ष की दो शाखाओं में से चिदाचिद्विशिष्ट ब्रह्म की मान्यता ही रामानुजाचार्य मत के प्रभाव से नहीं दिखाई, हिन्दू-मुस्लिम की मूल एकता की ओर भी संकेत किया है। किन्तु इसमें कहीं भी कबीर का सा तीखापन और चोट नहीं है। जायसी ने आचार-पक्ष की ओर ध्यान नहीं दिया, 'हृदय' के संस्कार को ही महत्व दिया है। सूफी उदारता के साथ जहाँ उसने हिन्दू-धर्म के अनेक विश्वासों का अपनी रचना में स्थान दिया है, वहाँ मुहम्मद में अखंड और अटल अनन्य श्रद्धा भी प्रकट की है। अतः कबीर से जायसी की भावधारा भिन्न ही माननी पड़ेगी। अखरावट में—'ना-नारद तब रोइ पुकारा। एक जुलाहे सौं मैं हारा॥' ये पंक्तियां देखकर यह नहीं माना जा सकता कि जायसी ने 'जुलाहे' के द्वारा कबीर का स्मरण किया है। क्योंकि जिस प्रसंग में यह शब्द आया है उस में जुलाहे का पूरा रूपक दिया गया है। वह जुलाहा—

"प्रेम-तंतु निति ताना तनई।
जप तप साधि सैकरा भरई॥
दरब गरब सब देइ विथारी।
गनि साथी सब लेहिं सँभारी॥
पाँच भूत माँडी गनि मलई।
ओहि सौं मोर न एकौ चलई"॥

जुलाहे के इस वर्णन में ऐसी कोई भी बात नहीं है जो 'कबीर' की ओर संकेत करे।

उस समय की समस्त ज्ञान-धारा की पृष्ठ-भूमि में सिद्ध-नाथ-पंथ के विचारों का बड़ा प्राबल्य था। लोक-मत को सिद्धों के चमत्कारों ने ग्रस लिया था। अद्भुत वार्त्ताओं के द्वारा इस पंथ के प्रचार का कार्य बड़ी सुगमता से होता था। इनके 'अलख' के साथ अद्भुत ताना-बाना तन गया था। कबीर की भावधारा की भी यही प्रधान, और महत्वपूर्ण पृष्ठ-भूमि थी, और जायसी की धारा की भी। जायसी का लोक-वार्त्ता की ओर आकर्षण, और उसके लिए सिंहलद्वीप की पद्मिनी की कथा का चयन नाथ-पंथ के प्रभाव के स्पष्ट प्रमाण हैं। सिंहल द्वीप गोरखपंथियों के लिए एक सिद्धपीठ है। नाथ-पंथ बौद्धों की महायान शाखा की योगमार्गी परंपरा में उदय हुआ था। इसे गोरखनाथ ने शैव रूप दिया। इस मत के अनुसार पूर्ण सिद्धि के लिए साधक को सिंहल के सिद्ध-पीठ में जाकर तप करना पड़ता है। वहां शिव स्वयं परीक्षा लेकर सिद्धि प्रदान करते हैं। यहाँ योगभ्रष्ट करने के लिए अनेक पद्मिनी स्त्रियाँ उस सिद्ध को आकर घेरती हैं। यहीं से जायसी ने पद्मिनी अथवा पद्मावती को लिया है तथा यहीं से उसने 'शिव' के द्वारा रत्नसेन की सहायता दिलाने का भाव पाया है, और साधना अवस्था की कठिनाई तथा प्रलोभन का निर्देश किया है। समष्टि में यह कहा जा सकता है कि कबीर से भी अधिक जायसी जन-मन के निकट पहुँचे हुए थे। लोक-समूह के लिए कहानी का माध्यम सबसे आकर्षक होता है। कहानी में भी अद्भुत चमत्कारक

घटनाओं का समावेश, लोक में ही प्रचलित धर्म-विश्वासों का अवलंब तथा बिल्कुल बोलचाल की भाषा होना ऐसे तत्व हैं जो जायसी में मिलते हैं, और जायसी को लोक-कवि बना देते हैं।

प्रबन्ध-कल्पना और कौशल—लोक-कवि होते हुए भी जायसी में साहित्यिक महत्व कम नहीं मिलता। लोक-तत्व तथा साहित्यिक-तत्व दोनों के संयोग के कारण ही जायसी अद्वितीय हैं। साहित्यिक महत्व का अर्थ पाण्डित्य से नहीं। जिस पाण्डित्य के दर्शन हमें आगे चल कर तुलसी की रामायण में मिलते हैं, वह जायसी में नहीं, पर कवि की सहज प्रतिभा उनमें विद्यमान है।

जायसी के पद्मावत में कवि के प्रबन्ध-कौशल का अच्छा उपयोग है। भारतीय साहित्य-शास्त्र ने महाकाव्यों में आधिकारिक और प्रासंगिक वस्तुओं का अन्तर माना है। आधिकारिक वस्तु इस काव्य में पद्मावती और रत्नसेन की है। यदि इस सम्पूर्ण आधिकारिक वस्तु को एक सूत्र मानें तो इसमें पद्मावती से रत्नसेन का विवाह होना काव्य की चरमावस्था मानी जायगी। आरम्भ से इस विवाह तक कथा में 'आरोह' माना जायगा, उसके उपरान्त 'अवरोह' आरम्भ होगा। जो पद्मावती और नागमती के सती हो जाने पर पूर्ण अवसान प्राप्त कर लेगा। किन्तु इस मान्यता में कई बाधाएँ हैं। पहली बाधा तो यह है कि कहानी के आरम्भ से ही पद्मावती को प्राप्त करना ही कथा-प्रवाह का ध्येय है। अतः नाटकीय संधियों के अनुसार पद्मावती की उपलब्धि में निर्वहण संधि से कथा की पूर्णता और

समाप्ति हो जाती है। आगे की कथा का 'बीज' पूर्व की कथा के बीज से बिल्कुल भिन्न है। ऐसी दशा में ये दो कथाएँ हो जाती हैं, और दो ही मानी जानी चाहिएँ। दूसरी बाधा यह पड़ती है कि 'चरम' के उपरान्त 'अवरोह' से 'अवसान' तक बहुत समय लग जाता है, और गति में भी आवश्यक तीव्रता नहीं रहती। यह कहा जा सकता है कि महाकाव्य में किसी भी पात्र का आदि से अन्त तक वर्णन रहता है। पद्मावति के जन्म से उसके अन्त तक को कथा का एक ही सूत्र मानना चाहिए।

इस युक्ति में विशेष बल नहीं। महाकाव्य के लिए किसी पात्र का आरम्भ से अन्त तक जीवन-वृत्त देना आवश्यक नहीं जितना कथा की गति के उद्देश्य की एकता। एकता में परिवर्तन होते ही कथा बदल जायगी, और वह दूसरी कहानी मानी जायगी। अतः "पद्मावत' को दो कहानियों का यह काव्य मानना चाहिए। पहले कथा-भाग का चरम रत्नसेन को सूली दिये जाने पर पहुँचता है; दूसरे कथा-भाग का चरम गोरा-बादल युद्ध के उपरान्त राजा रत्नसेन के मुक्त हो जाने के स्थल पर है। इस आधिकारिक वस्तु की सहायता के लिए कई प्रासंगिक वस्तुओं का भी संयोजन किया गया है। कोई भी प्रासंगिक वस्तु आधिकारिक वस्तु के समानान्तर नहीं चलती, सभी छोटी छोटी घटनाओं की भाँति मूल-कथा के तारतम्य में आकर कथा को उत्तेजित और अग्रसर कर देती हैं। ऐसी प्रासंगिक वस्तुएँ हैं। १—हीरामन तोता, २—राघव चेतन, ३—गोरा-बादल का प्रसंग, ४—देवपाल-दूती सम्वाद।

प्रासंगिक वस्तुएँ ऐसी होनी चाहिएँ जो आधिकारिक वस्तु की गति में सहायता पहुँचा सकें।

इसमें जायसी पूर्ण पटु हैं। ये सभी वस्तुएँ एक दूसरे से ताने-बाने की भाँति गुम्फित हैं, और प्रबंध को व्यवस्था के साथ उत्कृष्ट रूप प्रदान करती हैं। हाँ, जैसा ऊपर कहा जा चुका है एक ही काव्य में कथा के दो उद्देश्य समुचित नहीं लगते। आचार्य शुक्लजी ने पद्मावत महाकाव्य का महाकार्य सती होना बतलाया है, और समस्त कथा में एक ही उद्देश्य और एक ही सूत्र माना है। यह कहा जा सकता है कि जायसी का यह समस्त महाकाव्य दो उद्देश्यों को एक सूत्र में बाँध देता है, यथार्थ में पहला उद्देश्य दूसरे का आधार है। पद्मावती की प्राप्ति उसके सती होने के पूर्व की आवश्यकता है अतः एक दूसरे के 'पूर्व' और 'उत्तर' की व्यवस्था में बंधकर महाकाव्य की विशदता और पूर्णता प्रदान करते हैं।

अलंकार-विधान—जायसी के इस महाकाव्य में एक नहीं अनेक अलंकारों का प्रयोग हुआ है। अलंकार काव्य के सहज सहायक हैं। जायसी ने उन्हें यथार्थतः काव्य के सहज सहायक के रूप में ही लिया है। अलंकार-सम्प्रदाय के अनुसार अलंकारिता में ही काव्य का गौरव जायसी नहीं मानते। हाँ, जब उनके हृदय में उदय होने वाली भावानुभूति प्रकट होना चाहती है, पर साधारण शब्दावली असमर्थ ठहरती है, तब कवि अलंकारों का उपयोग निःसंकोच और बिना रुके कर

डालता है। इस प्रकार के अलंकारों का कवि ने द्विविध प्रयोग किया है। स्थूल जगत की मूर्त्त सीमाएँ जब उसके मनःलोक में पारदर्शी हो जाती हैं और उसमें से उसके अन्तर में स्थूल और मूर्त से परे विराट् और भव्य की अनुभूति झिलमिलाने लगती है तो वह बिना अलंकारों के अपना काम नही चला सकता। उसने स्थूल और मूर्त सौंदर्य के चित्रण के लिए भी अलंकारों का अवलम्ब लिया है। समस्त अलंकार-विधान स्वभावतः ही बहुधा रसानुकूल हुआ है। किन्तु वहीं उस अलंकार-विधान से किसी परोक्ष का अथवा अप्रस्तुत का रूप भी स्फुट हो पड़ता है। पद्मावति का नखशिख वर्णन करते हुए हीरामन कहता है :—

"दसन चौक बैठे जनु हीरा।
औ बिच-बिच रँग स्याम गँभीरा॥
जस भादौं निसि दामिनी दीसी।
चमकि उठै तस बनी बतासी॥
वह सुजोति हीरा उपराहीं।
हीरा-जोति सो तेहि परछाहीं॥

यहाँ कवि ने पहले तो दाँतों को हीरा बतलाया, फिर दाँतों के प्रकाश को भादों निशि में दामिनी की चमक के तुल्य दिखाया, किन्तु उसकी कल्पना अथवा अनुभूति अब इस स्थूल से बंधी नहीं रह सकती। हीरा से विद्युत् तक पहुँचते ही, उसे अनुभव हुआ कि दाँत हीरा जैसे लगते तो हैं, पर यथार्थ में

जिस ज्योति से दाँतों का निर्माण हुआ है, उसके समक्ष तो हीरा का प्रकाश परछाँई ही लगता है। अब उसकी अनुभूति में विराट् उतर आया है, और वह कहने लगता है।

जेहि दिन दसन जोति निरमई
बहुतै जोति जोति ओहि भई
रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती···आदि।

कवि की इस विराट् अनुभूति का एक सहज क्रम है, पहले अत्यन्त पार्थिव उपमान हो आता है, उस उपमान से कल्पना प्रकृति के मूर्त व्यापारों को उपमान की भांति ग्रहण करती हैं। यहाँ से वह प्रकृति पारदर्शी हो जाती है और कवि को विराट् की अनुभूति हो उठी है। रूप-वर्णन और विरह-वर्णन में जायसी में बहुधा यही प्रणाली मिलती है। इसमें उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक अथवा रूपकातिशयोक्ति जैसे सादृश्यमूलक अलंकारों का कवि संयोजन करता चला जाता है। यह संयोजन रस के अनुकूल हुआ है। उपर्युक्त उदाहरण में ही हीरामन पद्मावती के रूप के प्रति केवल रति या आकर्षण का ही भाव उत्पन्न नहीं करना चाहता, वह साधारणतः मिलने वाले उत्कृष्ट सौन्दर्य से भी अद्भुत इस सौन्दर्य को चित्रित करना चाहता है। फलतः सौन्दर्य में मार्दव और माधुर्य तो स्थूल उपमानों से लाया गया है, किन्तु उस सौन्दर्य का अवाक् तेज भी उसके साथ-साथ प्रकट कर दिया है। ऐसा विधान किसी शास्त्रीय परिपाटी के ज्ञान के आधार पर नहीं किया गया, सौन्दर्य के सहज रूप-

दर्शन के लिए कवि के समक्ष जो उपमान यथार्थ माध्यम बन कर आये उन्हें ही उसने ले लिया। अलंकारों में इस स्वाभाविकता को व्याप्त रखते हुए भी जायसी ने एकानेक चमत्कारक अलंकारों का बड़ा ही चमत्कारक और सुन्दर संयोजन किया है। 'विषादन' अलंकार का यह प्रयोग है–'गहें बीन मकु रैन बिहाई, ससि बाहन तहँ रहै ओनाई' विरहिणी की रात नहीं कटती, सोचती है बीणा बजा कर मन बहलाया जाय तो रात अच्छी कट जायगी। किन्तु परिणाम उलटा हुआ। चन्द्र-वाहन मृग वीणा का मधुर राग सुनने को ठहर गये। रात और बड़ी हो गई। विषादन के द्वारा किस प्रकार भाव-चमत्कार उपस्थित हुआ है। तब द्वितीय पर्यायोक्ति के द्वारा इस भाव को और भी उत्कर्ष दे दिया है :—

पुनि धनि सिंघ उरे है लागै। ऐसिहि बिथा रैनि सब जागै॥

मृग को भगाने के लिए सिंह का चित्र खींचना ही अब एक साधन था।

मुद्रा अलंकार का उदाहरण लीजिए:—

धौरी पंडुक कह पिउ नाउँ। जौं चित रोखन दूसर ठाऊं॥
जाहि बया होइ पिउ कंठ लवा। करे मेराव सोइ गौरवा॥

इसमें विरह की अवस्था और मिलन की कामना के भाव के साथ धौरी, पंडुक, चित, रोख, बया, कंठ, लवा, गौरवा आदि पक्षियों का वर्णन भी आ गया है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जायसी का अलं-

कार-संयोजन विलक्षण और विविध तथा मनोरम है। हाँ, कुछ बातें कवि को इतनी मोहक लगी हैं कि उसने बार बार उल्लेख किया है। आकाश, विद्युत्, चन्द्र, सूर्य, राहु, और ताराओं का वर्णन कवि को जहाँ भी अवसर मिला है, किया है। धनुष और बाण भी कवि को प्रिय हैं। राम और रावण का उल्लेख भी कवि ने कई बार अलंकार की दृष्टि से किया है। इन सब संयोजनों में प्राधान्य तो अवश्य ही भारतीय प्रणाली का है, फिर भी फारसी की मान्यताएँ भी जहाँ तहाँ बिखरी हुई हैं, और वे भारतीय सौन्दर्य अथवा कला-शील में वेमेल लगने लगती हैं। जैसे रक्त और मांस का वर्णन। हथेली का वर्णन यों है।

हिया काढ़ि जनु लीन्हेसि हाथा।
रुधिर भरी अंगुरी तेहि साथा॥

हृदय निकाल कर हाथ पर रख लेने तक तो गनीमत है। इससे तो अन्तर और वाहर का ऐक्य तथा चारित्रिक उच्चता प्रतीत हो जाती है। पर रुधिर से पूर्ण उँगलियाँ हमें सौन्दर्य का वोध नहीं करातीं, वीभत्स भाव का उदय कर देती हैं! इस रक्त का उल्लेख कवि ने कई वार किया है, और वह उसे प्रिय प्रतीत होता है।

फिर भी जायसी महान् कवि है। उसमें कवि के समस्त सहज गुण विद्यमान हैं। उसने सामयिक समस्या के लिए प्रेम की पीर की देन दी। उस पीर को उसने शक्तिशाली महाकाव्य के द्वारा उपस्थित किया। वह अमर कवि है।

३

रसिक भक्त महात्मा सूरदास

सूर सूर तुलसी शशी, उडगन केसव दास।
अब के कवि खद्योत सम, जहँ तहँ करत प्रकास॥
किधौं सूर कौ सर लग्यौ, किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर कौ पद लग्यौ, रहि रहि धुनत सरीर॥
उत्तम पद कवि गङ्ग के, उपमा को बरबीर।
केसव अरथ गम्भीरता, सूर तीन गुन धीर॥
कविता करता तीन हैं, तुलसी, केसब, सूर।
कविता खेती इन लुनी, सीला बिनत मजूर॥

जीवन-लीला—हमारे साहित्य के सूर का भी जीवन-वृत्त अन्धकार में ही है। उनके जन्म-संवत् के सम्बन्ध में अनुमान का आधार इस प्रकार से है। सूरदास जी की साहित्यलहरी का निर्माण-काल नीचे के दोहे में दिया गया है—

मुनि पुनि रसन के रस लेख।
दसन गौरी नंद को लिखि सुबल सम्बत पेख॥

इसका अर्थ इस प्रकार लगाया जाता है मुनि=७ (सप्तर्षि) ७, रसन* (रस न)=०, रस (षटरस) ६, दसन गौरीनंद को (गणेशजी का एक ही दन्त माना जाता है) १ 'अंकानां वामतो गतिः' अंकों की गिनती उलटी तरफ़ से होती है। इस प्रकार साहित्यलहरी का निर्माण-काल १६०७ बैठता है।

सूरसारावली और साहित्यलहरी दोनों ही सूरसागर के बाद के ग्रन्थ हैं और दोनों ही एक प्रकार से सूरसागर पर आश्रित संग्रह हैं अतः उनके रचना-काल में अधिक अन्तर नहीं हो सकता।

सूरसारावली के निर्माण के समय सूरदास जी ने अपनी अवस्था ६७ साल की बतलाई है।

गुरु प्रसाद होत यह दरसन, सरसठि बरस प्रवीन।
सिव विधान तप करेउ बहुत दिन, तऊ पार नहिं लीन॥

यदि हम सूरसारावली और साहित्यलहरी का निर्माण-काल एक ही समय का मानें तो उनका जन्म-संवत् १६०७—६७=१५४० बैठता है। कांकरौली विद्या-विभाग द्वारा प्रकाशित की हुई हरिराय की 'भावप्रकाश' नाम की टीका की जो चौरासी वैष्णवों की वार्ता पर है, भूमिका में सूरदासजी का जन्म संवत् १५३५ माना गया है। वल्लभ-सम्प्रदाय में लोगों का ऐसा विश्वास है कि सूरदासजी महाप्रभु वल्लभाचार्य से

---

*रसन का अर्थ रसना भी लगाया गया है। रसना के दो कार्य बोलना और आस्वादन होने के कारण उसकी संख्या दो मानी गई है।

१० दिन छोटे थे। वल्लभाचार्य का जन्म-संवत् १५३५ माना जाता है। यह सम्भव हो सकता है कि सूरसारावली साहित्य-लहरी के पाँच वर्ष पहले लिखी गई हो। जो कुछ भी हो सूरदास जी का जन्म-संवत् १५४० या उसके आगे-पीछे पांच वर्ष इधर या उधर हो सकता है।

सूरदासजी का निधन १६३५ के आस-पास हुआ होगा। बहत्तर वर्ष की अवस्था तक तो वे ग्रन्थ-रचना ही करते रहे। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी का गोलोक-वास १६४२ में हुआ था। इससे पूर्व ही सूरदासजी का स्वर्ग-वास हुआ होगा क्योंकि सूरदास जी की जीवन-लीला समाप्त होते समय गोस्वामी विट्ठलनाथ जी वर्तमान थे। इधर सूरदास जी का समय-समय पर गोकुल में नवनीतप्रिया के दर्शनों के लिए जाने का उल्लेख है। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी संवत् १६२८ के पश्चात् गोकुल-निवास करने लगे थे। इस आधार पर प्राचीन-वार्ता-रहस्य की भूमिका-लेखक श्री दीनदयाल गुप्त का अनुमान है कि सूरदास जी संवत् १६३० तक जीवित थे। इस प्रकार सूरदास जी के गोलोकवास की तिथि संवत् १६३० और १६४० के बीच में माननी होगी।

निवास स्थान—चौरासी वैष्णवों की वार्ता के अनुसार सूरदास जी को आगरा और मथुरा के बीच में जमुना जी के किनारे गऊ-घाट पर महाप्रभु वल्लभाचार्य के दर्शन हुए थे (सो गऊ घाट ऊपर सूरदास रहते, तब कितने दिन पाछें श्री आचार्य जी

महाप्रभू आपु अड़ेल ते व्रज कूं पधारत हते। सो कछूक दिन में श्री आचार्य प्रभू गऊघाट पधारे) इसी आधार पर कुछ लोग गऊघाट के निकट रूनुकता को (रेणुका क्षेत्र को जहाँ परशुराम जी ने अपनी माता को मार डाला था) उनका जन्म स्थान मानते हैं। कुछ लोग दिल्ली के पास सीही स्थान को उनके जन्मस्थान होने का श्रेय देते हैं।

वंश-परिचय—सूर के एक दृष्टिकूट के आधार पर उनको चन्द का वंशज बतलाया जाता है और इस हिसाब से वे जगात कुल के ब्रह्मभट्ट ठहरते हैं। इनके मूल-पुरुष पार्थजगोत्र के जगात वंशी भाट ब्रह्मराव नाम के व्यक्ति थे। (चौरासी वैष्णवों की वार्ता में उनको ब्राह्मण कहा है और हरि रायजी की भावप्रकाश नाम की टीका में उन्हें सारस्वत ब्राह्मण बतलाया गया है।) चन्द के चार पुत्र थे। उनमें द्वितीय पुत्र का नाम गुणचन्द था। उसके वंश में हरिश्चन्द्र नाम का एक सुकवि हुआ। उसका पुत्र आगरे में रहा जिसके सात पुत्र हुए। उनमें सातवें पुत्र सूरज चंद हमारे प्रसिद्ध कवि सूरदासजी हुए। (भयो सप्तो नाम सूरजचंद मंद निकाम) बाकी छः पुत्र लड़ाई में मारे गये। सूरजचंद नेत्रहीन थे वे एक रोज कुएँ में गिर गये—

सो समर करि साहि सेवक गये विधि के लोक
रह्यौ सूरजचंद दृग ते हीन भर वर सोक
परो कूप पुकार काहू सुनी ना संसार
सताये दिन आइ जदुपति कियो आप उद्धार

वे सात रोज तक पुकारते रहे, किसी ने नहीं सुनी; तब सातवें दिन स्वयं भगवान् ने उनको निकाला और दोनों नेत्र देकर कहा कि पुत्र वर माँग। सूरदासजी ने यही वर माँगा कि भगवान् तुम्हारी भक्ति मिले, शत्रुओं का नाश हो और जिन नेत्रों से श्याम सुन्दर के दर्शन किये उन नेत्रों से और कुछ न देखूं। भगवान् 'एवमस्तु' कह कर अन्तर्धान होगये और कह गये कि ब्राह्मण वंश द्वारा (पेशवाओं की ओर संकेत) शत्रु का नाश होगा 'प्रबल दच्छिन विप्रकुल ते शत्रु ह्वै है नास'। भगवान ने ही उनका नाम सूरजचंद से सूरदास कर दिया। फिर गोस्वामी जी (विट्ठल-नाथ जी) ने उनकी अष्टछाप में स्थापना करदी। 'थापि गोसाइँ करी मेरी आठ मद्धे छाप'। अष्टछाप के कवियों के नाम इस प्रकार हैं:—सूरदास, कुम्भनदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, छीत स्वामी; गोविन्द स्वामी, चतुर्भुजदास और नन्ददास। इनमें चार महाप्रभू वल्लभाचार्य के थे और चार गोस्वामी विट्ठलदास जी के।

इस छन्द की प्रामाणिकता में दो बातों से संदेह किया जाता है, एक ता इसमें जो चन्द की वंशावली दी गई है वह अन्यत्र दी हुई वंशावली से भिन्न है; दूसरी बात यह है कि सूरदास जी पेशवाओं की बात आगे से किस प्रकार कह सकते थे? ऐसा अनुमान होता है कि सूरदास नाम के और किसी कवि ने जो पेशवाओं के समय थे इस पद को बनाया था और पीछे से यह सूर के दृष्टिकूट के संग्रह में शामिल होगया। (वैसे सूरदास

नाम के तीन व्यक्ति हुए हैं, सूरदास बिल्वमंगल, सूरदास मदन-मोहन और सूरदास अष्टछाप वाले) इस छंद से नीचे के तथ्य निकलते हैं :—

(१) सूरदास जी ब्रह्मभट्ट और चंद के वंशज थे। इस सम्बन्ध में चौरासी वैष्णवों की वार्ता, जो कि उनके ही सम्प्रदाय का ग्रन्थ है, अधिक प्रामाणिक माना जाना चाहिए।

(२) सूरदास जी जन्मान्ध थे और कुएँ में गिर पड़े थे और सात दिन बाद भगवान् ने निकाला था। कुएँ में गिर पड़ने की बात के सम्बन्ध में नीचे का दोहा प्रसिद्ध है :—

बाँह छुड़ाए जात हो निबल जानि के मोहिं।
हिरदे सों जब जाइहो, मरद बदौंगो तोहिं॥

इस दोहे में कवित्व तो बहुत है किन्तु इसमें एक अपभ्रंश गाथा की छाया है। इससे यह नहीं मालूम होता है कि सूरदास जी ने उसे किसी विशेष परिस्थिति में बनाया था। यह गाथा मेरुतुङ्ग के संग्रह-ग्रन्थ के प्रसङ्ग में आचार्य शुक्ल जी के इतिहास में इस प्रकार उद्धृत है। इसका सम्बन्ध मुञ्ज और मृणालवती के आख्यान से है।

बाँहि विछोड़वि जाहि तुहँ, हँउँ तेवँइ का दोसु।
हिअयट्ठिय जय नीसरहि, जाणाउँ मुँज सरोसु॥

अर्थात् तुम बाँह छुड़ा कर जा रहे हो तुमको क्या दोष दूं? हृदय से जब विसर जाओगे तब मैं समझूंगी कि मुंज नाराज हो गये हैं। इस आशय का एक संस्कृत श्लोक भी सान्याल जी

ने उद्धृत किया है किन्तु यह निश्चय नहीं है कि श्लोक सूर के पूर्व का है या बाद का। यह गाथा निश्चयात्मक रूप से सूर के बहुत पहले की है। उनके जन्मान्ध होने की बात भी संदिग्ध है क्योंकि यदि जन्मान्ध होते तो वे कृष्ण-लीला की ऐसी बातें नहीं लिख सकते थे जो निजी निरीक्षण पर ही निर्भर हो सकती हैं (जैसे बाल-कृष्ण का सोते-सोते अधर पुटों को फड़काना)। जब वे जन्मान्ध नहीं थे तो क्या आंखें उन्होंने स्वयं फुड़वालीं? (जैसी कि किंवदंती है कि उनका मन एक सुन्दर स्त्री पर विचलित होगया था और अपने नेत्रों को ही इस विकार का कारण समझ कर उनको उसी युवती द्वारा फुड़वा लिया था। यह कथा बिल्वमंगल जी के लिए भी प्रसिद्ध है)। ऐसी भी कल्पना नहीं की जा सकती। यदि आँखें उन्होंने स्वयं फुड़वाई होतीं तो अपनी नेत्रहीनता के लिए अपने भगवान् को निम्न-लिखित शब्दों से उलाहना न देते :—

मित्र सुदामा कीन्ह अयाचक, प्रीति पुरानी जानि।
सूरदास सौं कहा निठुराई, नैनन हू की हानि॥

३—गोस्वामी विट्ठलनाथजी ने उनकी अष्टछाप में स्थापना की। यह बात तो प्रसिद्ध है ही।

दीक्षा—सूरदासजी महाप्रभु वल्लभाचार्य के शिष्य थे। इस बात का पहले उल्लेख हो चुका है।

कर्मयोग पुनि ज्ञान उपासन, सब ही भ्रम भरमायौ।
श्री वल्लभ गुरु-तत्व सुनायो, लीला भेद बतायौ॥

चौरासी वैष्णवों की वार्ता में लिखा है कि वल्लभाचार्य से भेंट होने पर सूरदासजी ने विनय के पद 'हौं हरि सब पतितन कौ नायक' तथा 'प्रभू हौं सब पतितन कौ टीकौ' गाये। इसी सम्बन्ध में वार्ता में आगे लिखा है 'सो सुनि कें श्रीआचार्यजी आप सूरदास सों कहे, जो सूर है कें ऐसो घिघियात काहे को हैं? कछु भगवल्लीला वर्णन कर।'

चार नाम—सूरदासजी ने इसी उपदेश के अनुसार श्रीकृष्ण-लीला का वर्णन किया। उनके हीनता-सम्बन्धी जो विनय के पद हैं उनके सम्बन्ध में विद्वानों का मत है कि वे वल्लभाचार्य से दीक्षा लेने के पूर्व के हैं। श्री महाप्रभू वल्लभाचार्य उनको श्रीनाथजी के मन्दिर में (उस समय श्रीनाथ गोवर्धन में विराज-मान थे) कीर्तन करने के लिए गोवर्धन ले गये। वहाँ वे नित्य और नैमित्तिक (उत्सवों पर) कीर्तनों के समय नये-नये पद गाते थे। वे ही पीछे सूरसागर के रूप में संग्रहीत हुए। सूरदासजी समय-समय पर गोकुल भी जाते रहे थे। कहा जाता है कि उनको दिव्य दृष्टि थी। बिना नेत्रों के ही वे भगवान् के नित्य-नवीन होने वाले शृङ्गारों का साक्षात्कार कर लेते थे और उसके अनु-कूल पद बनाकर गाया करते थे। उनका संकल्प सवा लाख पद रचने का था। उन्होंने एक लाख ही पद रचे थे और उनकी जीवन-लीला समाप्त होने का समय आगया। स्वयं श्रीनाथजी ने पच्चीस हजार पद सूरश्याम की छाप से रच कर उनकी पोथी में शामिल कर दिये थे। वार्ता के टीकाकार श्री हरिरायजी के अनुसार वे

चार नामों से पुकारे गये थे। सूर, सूरदास, सूरजदास, सूरश्याम और उन्होंने चारों नामों को सार्थक किया।

'सो इन सूरदासजी के चारि नाम हैं श्रीआचार्यजी (महाप्रभू वल्लभाचार्य) आप तो 'सूर' (शूरवीर) कहते ....गोसाईंजी आप 'सूरदास' कहते, सो दास भाव से कबहूँ घटे नाहिं.................और तीसरे इनको नाम 'सूरजदास' है। जो श्री स्वामिनीजी के ७ हजार पद सूरदास जी ने किये हैं तामें अलौकिक भाव वर्णन किये हैं, तासो श्री स्वामिनीजी कहते, जो ये सूरज हैं।.................और श्री गोवर्द्धननाथजी ने पच्चीस हजार कीर्तन प्रायः सूरदासजी को करि दिये। तामें सूरश्याम नाम धरे। सो या प्रकार सूरदासजी के चारि नाम प्रकट भये।'

इस वर्णन में अलौकिकता अवश्य है किन्तु यह बात सम्भव हो सकती है कि एकही व्यक्ति की चार नाम से प्रसिद्धि हो। जिन को महाप्रभू सूर कहते थे उनके पुत्र स्वभावतः सूरदास कहेंगे। सूर के दोनों ही अर्थ होते हैं शूर और सूर्य और वे दोनों ही नाम से पुकारे जा सकते हैं। श्याम के भक्त होने के कारण वे छन्द की पूर्ति में अपने को सूरश्याम भी लिखते हों। कुछ लोग इनको अलग-अलग व्यक्ति मानते हैं।

महाप्रभू वल्लभाचार्य इनको सूरसागर भी कहते थे क्योंकि उनमें सागर की भांति रत्न भरे पड़े थे 'और सूरदास को जब श्री आचार्यजी देखते थे तब कहते जो—आवो सूर सागर ! सो

ताको आशय यह है, जो समुद्र में सगरो पदार्थ होत हैं। तैसे ही सूरदास ने सहस्रावधि पद किये हैं। ता में ज्ञान वैराग्य के न्यारे न्यारे भक्ति-भेद, अनेक भगवद् अवतार, सो तिन सबन की लीला को बरनन कियो है।' उनके प्रधान ग्रन्थ सूरसागर का नामकरण उनके ही नाम पर हुआ था।

सूरदास और अकबर—आइने अकबरी और मुंशियात अबुल फ़ज़ल में सूरदास का उल्लेख आया है। आइने अकबरी में सूरदास जी का उनके पिता बाबा रामदास के साथ दरबार के गवैयों के रूप में उल्लेख है। मुंशियात अबुल फ़ज़ल में एक पत्र भी है जो अबुल फ़ज़ल ने सूरदासजी को, जब कि वे बनारस में थे, लिखा था। चौरासी वैष्णवों की वार्ता में भी सूरदासजी और अकबर की भेंट का उल्लेख है किन्तु उसमें न सूरदासजी के बनारस में होने का उल्लेख है और न उनके दरबारी गवैये होने की बात है। वार्ता के अनुसार जब अकबर ने सूरदास जी से अपने यश गाने की बात कही तब उन्होंने यही गाया 'नाहिंन रह्यो मन में ठौर'। सूर ने अकबर से यही कहा—'आज पाछे हमको फेरि मत बुलाइओ'। उन्होंने देशाधिपति से बस यही वर माँगा था। सम्भव है कि यह बात सूरदास जी की महत्ता दिखलाने के लिए लिख दी गयी हो किन्तु दीक्षा के पश्चात् व्रज को छोड़ कर बनारस में रहना सूर के सम्बन्ध में असम्भव-सा प्रतीत होता है। सूरदासजी ने दीक्षा संवत् १५८७ से पहले ही ली होगी क्योंकि उस संवत् में आचार्यजी का गोलोकवास होगया

था। अकबर संवत् १६१३ में गद्दी पर बैठा। सूरदासजी का उस समय उनके दरबार का गवैया होना असम्भव था। सूर के सम्बन्ध में यह भी किंवदन्ती है कि उनके पिता उनको ८ वर्ष की अवस्था में वृन्दावन छोड़ आये थे। यद्यपि गुंसाईं चरित के अनुसार सूरदासजी बनारस में तुलसीदासजी से मिले थे तथापि उनका स्थायी रूप से बनारस में रहने की बात पर सहज में विश्वास नहीं किया जा सकता। गुंसाईं चरित की प्रामाणिकता में भी सन्देह है। इसलिए आइने अकबरी के सूरदास कोई दूसरे ही होंगे।

अन्त समय—सूरदासजी अपना शरीर त्याग करने के लिए गोवर्द्धन के पास पारसौली ग्राम को चले गये थे (वहीं चन्द्रसरोवर है) भगवान् के रास के लिए वहाँ उड़राज (चन्द्रमा) का उदय हुआ था, इसलिए उस स्थान का नाम चन्द्रसरोवर पड़ा।

जब गोस्वामी श्री विट्ठलनाथ जी को खबर लगी तब कुम्भनदास चतुर्भुज आदि वैष्णवों के साथ पारसोली पधारे। उस समय चतुर्भुजदास जी ने कहा कि सूरदास जी ने भगवान् के एक लाख पद लिखे किन्तु आचार्य महाप्रभु के वर्णन में कुछ नहीं लिखा। तब सूरदास जी ने उत्तर दिया "मैं तो सगरौ जस श्री आचार्य जी कौ ही वर्णन कियौ है जो मैं कछू न्यारों देखतौ तौ न्यारौ करतो" गुरु का वे भगवान् से ही तादात्म्य करते थे। (गुरु की महत्ता को तथा नाम-महिमा को भक्ति-काल के चारों सम्प्रदायों ने—ज्ञानमार्गी, प्रेममार्गी, रामभक्त और कृष्ण-भक्त कवियों ने समान रूप से स्वीकार किया था) इसके बाद उन्होंने आगे का पद गाया।

भरोसौ दृढ़ इन चरनन केरौ।
श्री वल्लभ नख-चन्द-छटा बिनु सब जग माँझ अँधेरौ॥
साधन और नाहो या कलि में, जासो होत निबेरौ।
'सूर' कहा कहि दुविध आँधरो, विना मोल को चेरौ॥

गोस्वामी जी के पूछने पर कि तुम्हारे नेत्रों की वृत्ति कहाँ पर है सूरदास जी ने निम्नोद्धृत अंतिम पद गाकर अपनी जीवन-लीला समाप्त की—

खंजन नैन रूप रस माते।
अतिसय चारु, चपल, अनियारे पल पिंजरा न समाते॥
चलि चलि जात निकट स्रवनन के, उलटि-पुलटि ताटंक फँदाते।
सूरदास अंजन गुन अटके, नातरु अब उड़ि जाते॥

इस पद को गा कर उनके नेत्र अंजन गुण को भी तोड़कर अपने चरम लक्ष्य को सदा के लिए पहुँच गये।

सूरदास के ग्रन्थ—सूरदास जी के पांच ग्रन्थ माने जाते हैं। (१) सूरसागर (२) साहित्यलहरी (३) सूरसारावली (४) नल-दमयन्ती (५) ब्याहलो। सूरसागर ही उनका मुख्य ग्रन्थ है। साहित्यलहरी में दृष्टकूट है। वे पद प्रायः सूरसागर में भी मिलते हैं। सूरसारावली एक प्रकार सूरसागर का सार है। तादिन ते हरि लीला गाई एक लक्ष पद वन्द। ताको सारसूरसारावली गावत अति आनन्द॥' ये दोनों ही ग्रन्थ छोटे हैं। नम्बर चार और पांच अप्राप्य हैं।

सूरसागर में श्रीमद्भागवत की भांति बारह स्कन्ध अवश्य हैं।

किन्तु, वह उसका अनुवाद नहीं है। डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा ने श्रीमद्भागवत के अध्यायों और सूरसागर के पदों की तालिका देकर यह निष्कर्ष निकाला है कि जहाँ भागवत में ३३५ अध्यायों में ६० अध्याय कृष्णावतार से सम्बन्ध रखते हैं वहाँ सूरसागर के ४०३२ पदों में से ३६३२ पदों में कृष्णलीला का गान है। शेष ४०० पदों में और अवतारों की कथा और विनय के पद हैं। विनय के पद पहले स्कन्द में हैं और वे ही सबसे अधिक हैं। उनकी संख्या २१९ है। कृष्णलीला के दो अंश हैं, एक व्रजलीला और दूसरी द्वारिकालीला। श्रीमद्भागवत में इन दोनों लीलाओं को समान महत्व दिया गया है। ६० अध्यायों में ४६ अध्यायों में व्रज की लीला है और ४१ अध्यायों में द्वारिका की लीला है। किन्तु सूरसागर में व्रज की लीला को ही महत्व दिया गया है और इसमें कृष्णलीला के ३६३२ पदों में ३४६४ व्रज और मथुराजी की लीला के हैं और १३८ उत्तरकालीन लीला से सम्बन्धित हैं। कथा का आधार भागवत का जरूर है किन्तु सूर ने उसे अपने ही ढंग से कहा है।

कृष्णोपासना और गीतिकाव्य की परम्परा—विष्णु को मानने वाले वैष्णव कहलाते हैं। हिन्दू जीवन में विष्णु के अवतारों में राम और कृष्ण की बहुत मान्यता है। भारतवर्ष के इस छोर से उस छोर तक इन दोनों अवतारों की उपासना भारत की अखण्डता प्रमाणित करती है। विष्णु की महत्ता वैदिक-काल ही में स्थापित हो चुकी थी। विष्णु शब्द 'विश' धातु से बना है

जिस का अर्थ प्रवेश करना है। वैदिक काल में विष्णु का सूर्य से तादात्म्य रहा। श्रीमद्भगवद्गीता में भी हमको उस बात की प्रतिध्वनि मिलती है। 'आदित्यानामहं विष्णुः' वामनावतार की कथा का जो संकेत हमको ऋग वेद में मिलता है 'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदं समूढमस्य पांशुरे' (= ऋक् १-२-७२) वह उनकी व्यापकता का द्योतक है। कृष्ण को वासुदेव भी कहते हैं और वासुदेव और विष्णु का तादात्म्य माना गया है क्योंकि दोनों का अर्थ प्रायः एक-सा ही है। वासुदेव का अर्थ है—सब में बसने वाला और विष्णु का अर्थ है—बड़ा और व्यापक।

वसनात् सर्वभूतानां वसत्वाद् देवयोनितः।
वासुदेवस्ततो वेद्यो वृहत्त्वाद् विष्णुरुच्यते ॥

ऋग्वेद में भी विष्णु का गौओं से सम्बन्ध रहा है। इस सम्बन्ध में डाक्टर नलिनीमोहन सान्याल ने लिखा है–ऋग्वेद में (१, २२, १८) विष्णु गोपा नाम से अभिहित हुए हैं। ऋग्वेद (१, १५४, ६) में बहुशृङ्ग गौओं का भी उल्लेख है। इन बातों का आध्यात्मिक अर्थ चाहे और कुछ भी हो किन्तु गोपाल-कृष्ण की मनमोहक कथाओं को आधार-भूमि उपस्थित करने के लिए इतना उल्लेख पर्याप्त है। छांदोग्य उपनिषद् में देवकी-पुत्र कृष्ण घोर अंगिरस के रूप में प्रतिष्ठित हैं। पाणिनि के समय में वासुदेवक शब्द वासुदेव सम्प्रदाय की व्यापकता का साक्षी है। छान्दोग्य उपनिषद् में प्राप्त हुई शिक्षाओं की गीता

में मंतव्यों से साम्य के कारण छान्दोग्य और गीता के कृष्ण का तादात्म्य किया जाता है। वे चाहे एक न हों इससे यह अवश्य प्रमाणित होता है कि कृष्ण नाम की प्रसिद्धि वैदिक-काल से थी।

श्रीमद्भागवत में राधा नाम का उल्लेख नहीं है। हरिवंश पुराण में एक बार उल्लेख है और फिर ब्रह्मवैवर्त पुराण में (जो कि बहुत पीछे का कहा जाता है) यह नाम आया है। इस बात को वैष्णव आचार्यों ने भी स्वीकार किया है फिर भी राधा नाम का नितान्त अभाव न था। अमरकोष में विशाखा नक्षत्र का दूसरा नाम राधा है। राधा का नाम न होते हुए भी श्रीकृष्ण जी की बाल और यौवन लीलाओं का माधुर्य पक्ष श्रीमद्भागवत तथा पद्म-पुराण में विकसित हो चुका था। पुराण ग्रन्थ ही नहीं कवि-कुल-गुरु कालीदास भी जो अपने धर्म, कर्म और विश्वासों में शैव थे कृष्णलीला तथा मोर-मुकुट-धारी नटवर नागर की विहार-स्थली वृन्दावन और गोकुल की भूमि के माधुर्य से प्रभावित थे। इन्द्रधनुष से सुशोभित मेघ की उपमा वे मोर-मुकुट-मंडित गोपवेशधर विष्णु अर्थात् श्रीकृष्ण से देते हैं, देखिए:—

येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते
वर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः।

इतना ही नहीं इन्दुमती के स्वयंवर के मेघदूत-प्रसङ्ग में रघुवंश में भी भगवान् कृष्ण की सुन्दरता का उपमान बनाया गया है और वृन्दावन और गोकुल के प्राकृतिक माधुर्य का

प्रशंसात्मक शब्दों में उल्लेख हुआ है। 'सकौस्तुभं ह्नेपयतीव कृष्णम्' 'कलापिनां प्रावृषि पश्य नृत्यं कान्तासु गोवर्धनकन्दरासु'।

कालीदास से भी पूर्व भास ने भी वालचरित में कृष्ण-लीलाओं का वर्णन किया है। गाथा-सप्तशती में, जो कि पाँचवीं शताब्दी का ग्रन्थ है, राधा का उल्लेख है। प्राकृत गाथा का संस्कृत अनुवाद नीचे दिया जाता है।

मुखमारुतेन त्वं कृष्ण गोरजो राधिकाया अपनयन्।
एतानां वल्लवीनामन्यासामपि गौरवं हरसि॥

यह तो अवैष्णव साहित्य की बात रही। वैष्णव साहित्य तो राधा-कृष्ण की लीलाओं से ओतप्रोत है। वैष्णवों में सबसे पहले निम्बार्काचार्य ने (जन्म संवत् १२१६) राधा का उल्लेख अपने भाष्य में किया था। जयदेव ने अपने गीतगोविन्द में राधा-कृष्ण की लीलाओं का जो खोल कर वर्णन किया है (जयदेव निम्बार्काचार्य के समकालीन थे)। उन्होंने अपनी कोमल-कान्त-पदावली द्वारा हरिस्मरण में सरसता रखने वालों के लिये विलासकला कौतूहल की ऐसी चाशनी तैयार की थी कि जिसके माधुर्य से आध्यात्मिकता की रसायन ग्राह्य बन गयी थी, देखिए वे क्या कहते हैं—

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो
यदि विलासकलासु कुतूहलम्।
मधुरकोमलकान्तपदावलीं
शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम्॥

यद्यपि गीति परम्परा वैदिक काल से चली आती है तथापि जयदेव ही आजकल गीति-काव्य के जन्मदाता गिने जाते हैं। विद्यापति और चण्डीदास ने उनका लोक-भाषा में अनुकरण किया, कृष्ण लीला के गेय पदों की सरिता प्रवाहित होने लगी। उसको चैतन्य महाप्रभु की (सं० १५४२ के लगभग) कृष्ण-भक्ति का बल मिला। चैतन्य महाप्रभु बल्लभाचार्य ने (जन्म सं० १५३५) श्री कृष्ण-भक्ति के लिए अपने पुष्टि मार्ग में दृढ़ आधार-भूमि तैयार कर दी थी।

इस प्रकार सूर पर दो प्रभाव थे—एक ओर तो बङ्गाल और मिथिला की अमराइयों से आई हुई गीति-काव्य की धारा और दूसरी ओर महाप्रभु बल्लभाचार्य की पुष्टिमार्गी भक्ति की शाखा। इसके अतिरिक्त व्रज की भी गीति-काव्य की धारा थी अवश्य जिसको कि यहाँ के गायक बैजू बावरे (तानसेन के गुरु) प्रभृति अपनाये हुए थे। आचार्य शुक्लजी ने अपने सूरदास नामक ग्रन्थ में उस परम्परा का एक पद दिया है।

मुरली बजाय रिझाय लई मुख मोहन तें।
गोपी रीझि रही रसतानन सौं सुध-बुध सब बिसराई।
धुनि सुनि मन मोहे, मगन भई देखत हरि-आनन॥
जीव जंतु पसु पंछी सुर नर मुनि मोहे, हरे सबके प्रानन।
बैजू बनवारी बंसी अधर धरि वृन्दावन-
चन्द बस किये सुनत ही कानन॥

सूर तथा अन्य कृष्ण-भक्त कवियों ने भगवान् कृष्ण के माधुर्य पक्ष को (शुक्लजी की भाषा में उनके लोकरंजक पक्ष को) अपनाया था। उसमें जीवन की वह अनेकरूपता न थी कि प्रबन्ध-काव्य का विषय बन सके, माधुर्य पक्ष के

प्रस्फुटन के लिए संगीत-लहरी में बहने वाली व्रज-भाषा की कोमल-कान्त-पदावली विशेष रूप से उपयुक्त थी। भगवत्कीर्तन उन लोगों की नित्य की उपासना का रूप था। उसके लिए स्वतःपूर्ण और एक दूसरे से स्वतन्त्र मुक्तक गेय पद ही उपयुक्त थे। इसलिए कृष्ण काव्य में उन्हीं का चलन हो गया था।

सूर काव्य का सैद्धान्तिक पक्ष—जैसा कि ऊपर कहा गया है सूरदास जी बल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित थे। इनके ही सिद्धान्तों से वे अधिकांश में प्रभावित थे। उस समय और भी प्रभाव थे। शङ्कराचार्य के मायावाद का पंडित समाज पर व्यापक प्रभाव था। कृष्ण-भक्त-सम्प्रदायों में मध्वाचार्य, एवं निम्बार्काचार्य का तथा चैतन्य महाप्रभु द्वारा आये हुए जयदेव और विद्यापति का प्रभाव था। कबीर के हठयोग और गुरु गोरखनाथ के निर्गुणवाद का भी पर्याप्त प्रभाव था। इन दोनों प्रभावों के प्रति सूरदास जी की प्रतिक्रिया तुलसी की भाँति प्रतिकूल ही रही। मर्यादावादी तुलसीदास जी अपनी प्रतिक्रिया को कुछ अक्खड़पन के साथ (अलखहि का लखहि राम नाम जप नीच) और सूर ने उसका मधुर गीत में गोपियों के मधुर व्यङ्ग्यों द्वारा काव्यमय ढंग से उद्घाटन किया। सूरदासजी सबसे पहले सगुणोपासक कवि थे। उन्होंने अपनी सगुण उपासना का सीधा सादा कारण इस प्रकार दिया है :—

रूप रेख, गुन, जाति जुगुति बिनु निरालम्ब मन चकृत धावै;
सब बिधि अगम विचारहिं ताते सूर सगुन पद गावै।

सूरदास जी ज्ञान के नितान्त विरोधी नहीं थे। वे भक्ति

विरोधी ज्ञान के ही विरोधी थे। ऊधो से गोपियाँ भी यही कहती हैं—'भक्ति विरोधी ज्ञान तिहारो।'

वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त शुद्धाद्वैत के नाम से प्रसिद्ध हैं। वे अपने दार्शनिक सिद्धान्तों में विष्णु स्वामी के अनुयायी थे। शुद्धाद्वैत के मत से ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप है। सारा चराचर जगत् उसी का अंश है। ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वल्लभाचार्य शङ्कराचार्य की भाँति माया को ब्रह्म से पृथक् नहीं मानते। इसीलिए उनके सिद्धान्त शुद्धाद्वैत के नाम से प्रख्यात हैं। ब्रह्म में सत, चित और आनन्द तीनों गुण पूर्णतया रहते हैं। सगुण ब्रह्म में ही भगवान् के गुणों की पूर्णता होती है। निर्गुण में थोड़ा-बहुत तिरोभाव ही रहता है। जीव में आनन्द का तिरोभाव-सा रहता है, सत और चित् का आविर्भाव या प्रकाश रहता है। जड़ में आनन्द और चित् दोनों का तिरोभाव हो जाता है। केवल सत गुण का ही प्रकाश रहता है इस प्रकार जड़ जगत भी सत है। इन तीनों गुणों के अनुकूल ब्रह्म की तीन शक्तियाँ मानी गई हैं। आनन्द का गुण ह्लादिनी शक्ति से आता है, चित् का सम्बन्ध संवित शक्ति से है और सत् का सम्बन्ध सन्धिनी शक्ति से है।

वल्लभाचार्य की सम्प्रदाय-साधना के हिसाब से पुष्टिमार्गी कहलाती है। पुष्टिमार्ग का अर्थ अच्छे भोजनों द्वारा शारीरिक पुष्टि नहीं है वरन् भगवत् अनुग्रह है। 'पोषण तदनुग्रह:' । जिन पर भगवान् का अनुग्रह होता है वे ही भक्ति के अधिकारी होते

हैं और उन्हीं का निरोध होता है अर्थात् वे ही संसार के प्रवाह से बच जाते हैं। भगवान् जिन को छोड़ देते हैं वे भवसागर में पड़ जाते हैं। जिनको वे रोक लेते हैं वे ही उनके सान्निद्धय का आनन्द लेते हैं।

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्नाः भवसागरे।
ये निरुद्धास्ते एवात्र मोदमायांत्यहर्निश।

वल्लभ सम्प्रदाय की उपासना बालकृष्ण की है। वे कृष्ण को ही पूर्ण ब्रह्म मानते हैं। कृष्ण लीला में आनन्द लेना ही उनके जीवन का चरम लक्ष्य है। इसलिए तो वल्लभ कुल के कविगण कृष्ण लीला को पूरी तन्मयता के साथ वर्णन कर सके हैं। महाप्रभु वल्लभाचार्य जी ने कहा है कि जो सुख यशोदाजी तथा नन्दादिकों को गोकुल में था और जो दुःख गोपियों को था वह मुझे कभी हो तो मैं उसे अपना सौभाग्य समझूंगा। जो सुख गोकुल में व्रजवासियों तथा गोपियों को है उसको भगवान् क्या मुझे भी देंगे?

यच्च सुखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले।
गोपिकानां च यद् :खं तद् :खं स्यान्मम क्वचित्॥
गोकुले गोपिकानां च सर्वेषां व्रजवासिनाम्।
तत्सुखं समभूत्तन्मे भगवान् किं विधास्यति॥
(डाक्टर वर्मा के इतिहास के उद्धरण से उद्धृत)

सूरदासजी ने भी अनेकों स्थानों पर ऐसी ही भावना प्रकट की है।

दुनियां के ससि लौं बाढ़ै सिसु, देखै जननी सोइ।
यह सुख 'सूरदास' के नैननि, दिन दिन दूनों होइ ॥

सूरदासजी ने कृष्ण-भक्ति को ही मुख्यता दी है, उसके अतिरिक्त उन्होंने मुक्ति का भी तिरस्कार किया है, 'मुकुति आनि मंदे में मेली–याहि लागि को मरै हमारे, वृन्दावन पायन तर पेली' भक्ति ही सूर के लिए सर्वस्व थी। भक्ति के आगे जाति-पाँति के बंधन कुछ नहीं थे। यद्यपि सूरदासजी इस मामले में कबीर की भाँति उग्र नहीं थे तथापि वे ब्राह्मणों में, अंधश्रद्धा भी नहीं रखते थे। उन्होंने तुलसी की भाँति यह नहीं कहा—पूजिअ विप्र शीलगुन हीना, सूद्र न गुनज्ञानप्रवीना'। वे तो भक्ति के नाते श्वपच को भी गरिष्ट बतलाते हैं और भक्ति बिना ब्राह्मण का भी जन्म नष्ट हो जाना कहते हैं 'भलो जो हरि जस गावै स्वपच गरिष्ट होत पद सेवत, बिनु गुपाल द्विजजन्म नसावे'। तुलसीदासजी ने भी भक्ति के नाते निषाद और शबरी को ऊँचा उठाया है, ब्राह्मणों की थोड़ी बहुत बुराई भी की है किन्तु उनको विप्रपद पूजा का जैसा आग्रह था वैसा सूर को न था। सूर ने महराने के पाँडेजी को खूब छकाया है।

बल्लभ कुल में जीव और ब्रह्म का भेद अंशांशी भाव का माना गया है। शङ्कराचार्यजी अंशांशी भाव को वास्तविक नहीं मानते हैं। वल्लभाचार्य जीव को वास्तविक अंश ही मानते हैं। जैसे अग्नि से स्फुलिङ्ग निकलते रहते हैं वैसे ही ब्रह्म से जीव। ब्रह्म अंशी है और जीव उनके अंश हैं—

विस्फुलिंगा इवाग्नेर्हि जड़ जीवा विनिर्गताः।
सर्वतः पाणिपादान्तात् सर्वतोऽक्षिशिरो मुखात् ॥

बल्लभाचार्य ने प्रकृति को असत् नहीं माना है। उसको ब्रह्म का ही आत्म-परिणाम माना है। माया को बल्लभाचार्य ने ब्रह्म के अधीन उसकी शक्ति माना है। माया के तीनों रूपों को अर्थात् (१) दार्शनिक रूप जिसके द्वारा संसार की सृष्टि होती है और जो ब्रह्म पर एक आवरण सा डाल देती है। इसको बल्लभाचार्य ने पीताम्बर कहा है और सूर ने कमली। यह कृष्ण के पूर्ण दर्शन में बाधक होती है, (२) सांसारिक रूप जिसके कारण जीव सांसारिक प्रलोभनों में पड़ जाता है, और (३) माया का अनुग्रहकारी रूप जो श्रीराधाजी में केन्द्रित है। मुरली को भी सूर ने योगमाया का रूप दिया है (इस सम्बन्ध में श्री रामरतन भटनागरजी कृत सूर साहित्य की भूमिका में दार्शनिक विचार सम्बन्धी अध्याय देखिए)

सूरदासजी की भक्ति सख्य भाव की अवश्य है किन्तु उसमें दैन्य की कमी नहीं है। इस की व्याख्या कुछ लोग तो इस प्रकार करते हैं कि दैन्य के पद महाप्रभु बल्लभाचार्य से दीक्षा लेने के पूर्व के हैं और कुछ लोग सख्य के साथ दैन्य के समन्वय में कोई बाधा नहीं देखते हैं। सख्य में भी दैन्य धारण किया जा सकता है। भगवान् की कृपा के अत्यधिक आग्रह होने के कारण सूर की भक्ति में वह नीति-परायणता नहीं है जो कि तुलसीदास-जी की भक्ति में है।

तुलसीदासजी ने अपने मर्यादावाद में हिन्दू धर्म में प्रतिष्ठित अन्य देवताओं को यथोचित मान देकर भी अपनी अनन्यता अक्षुण्ण रक्खी है। इसके विपरीत सूरदासजी ने राम और कृष्ण का तो अभेद माना है क्योंकि वे दोनों ही विष्णु के अवतार हैं, किंतु इन्होंने किसी अन्य देवता की स्तुति नहीं की है। जहाँ गोस्वामी जी रामचरितमानस और विनय-पत्रिका का प्रारम्भ 'जेहि सुमिरति सिधि होय' और 'गाइये गणपति जग वन्दन' से करते हैं वहाँ सूरदासजी, अपने ग्रन्थ का आरम्भ 'वंदौ चरण कमल हरि-राई' से करते हैं। सूर ने और देवताओं को रंक भिखारी भी कहा है, 'और देव सब रंक भिखारी त्यागे बहुत अनेरे' गोस्वामी जी भी इस दोष से बिल्कुल अछूते नहीं हैं। उन्होंने और देवताओं के लेन-देन के व्यवहार की बुराई की है।

सूर काव्य का भाव-पक्ष—सूर में यद्यपि कबीर की भांति कला-पक्ष की अवहेलना नहीं है, कहीं-कहीं तो सूर ने शुद्ध कला-पक्ष पर भी बल दिया है, तथापि उनका भाव-पक्ष पर्याप्तरूपेण पुष्ट और मांसल है। उस पर तुलसी की भांति मर्यादा का भी बन्धन नहीं है। सूर उन कवियों में से थे जिनका हृदय रस से आप्लावित था। उनका हृदय अपनी विशालता में एक ओर अपने पात्रों से तादात्म्य रखता है और दूसरी ओर अपने पाठकों को रस-सिक्त करता है। सूर ने विशेष रूप से तीन रसों को अपनाया है—शान्त रस, वात्सल्य और शृङ्गार। वास्तव में उनके शृङ्गार और वात्सल्य भी उनकी भक्ति-भावना के अङ्ग

होने के कारण भक्ति रस के ही (यदि उसका स्वतन्त्र अस्तित्व माना जाय*) अन्तर्गत समझना चाहिए। उनके लिए वे भक्ति का ही अङ्ग हैं किंतु हमारे लिए उनका लौकिक महत्व भी है। वास्तव में उन्होंने लौकिक को ऐसा ऊँचा उठा दिया है कि उसमें एक दैवी आभा आगई है। उनके वात्सल्य-वर्णन में पृथ्वी भी स्वर्ग बन जाता है। हम चाहें बाल कृष्ण को अवतारी पुरुष मानें या न मानें किन्तु उनकी बाल-लीला को पढ़ कर बरबस सूर के सुर से सुर मिला कर कहना पड़ता है—'जो सुख सूर अमर मुनि दुर्लभ, सो नित जसुमति पावै।'

शान्त रस—सूरदास जी ने अपने सूरसागर के पहले स्कन्ध में विनय के पद कहे हैं। वह एक प्रकार से सूर की विनय-पत्रिका है। उनका विनय के पदों में दैन्य और अक्खड़पन दोनों ही दिखाई देते हैं। वह अक्खड़पन मुँहलगे दास का सा है जो अपने स्वामी से भी दो-चार खरी-खोटी कह सकता है।

सूर के विनय के पदों में से संसार की अनित्यता, वैराग्य, पश्चात्ताप, उद्‌बोधन, सत्संगति-महिमा, व्रज-महिमा, भगवान् पर निर्भरता आदि सब ही कुछ है। भगवान् पर निर्भरता का एक पद लीजिए—

करैं गोपाल के सब होय
जे अपने पुरुसारथ मानै, अति ही भूठो सोय॥

---

* भक्तेर्देवादिविषयकरतित्वेन भावान्तरगततया रसत्वानुपपत्तिरिति' पंडितराज जगन्नाथ ने भक्ति को रस नहीं, भाव ही माना है। देवादि विषयक रति को भाव कहते हैं।

दैन्य ग्लानि और पश्चात्ताप के भाव शान्त रस के सञ्चारी कहे जायँगे। नीचे के पद में तीनों भावनाएँ हैं।

मो सम कौन कुटिल खल कामी।
जिन तनु दियो ताहि बिसरायो, ऐसो नौनहरामी॥
भरि-भरि उदर विषय को धावौं जैसे सूकर ग्रामी।
हरिजन छाँड़ि हरि विमुखन की निस दिन करत गुलामी॥

उद्दीपन रूप से ब्रजवास की महिमा और उसके साथ सन्तोषमयी भावनाओं के कारण नीचे के पद में शान्त रस का अच्छा परिपाक हो जाता है।

ऐसे ही बसिए ब्रज की बीथिनि।
साधुन के पनवारे चुनि चुनि उदर जु भरिए सीतनि॥
पैंडे के वसन बीनि तन छाया परम पुनीतनि।
कुंज कुंज तर लोटि लोटि रचि रज लगै रंगीतनि॥
निस दिन निरखि जसोदा नन्दन, अरु जमुना जल पीतनि।
दरसन सूर होत तन पावन, दरसन मिलत अतीतनि॥

वात्सल्य रस—जो आपत्ति भक्ति के स्वतन्त्र रस मानने में है वही वात्सल्य में है। भक्ति में देवविषयक रति है तो वात्सल्य में पुत्रादि विषयक रति है किन्तु वात्सल्य का चमत्कार इतना स्पष्ट है कि उसको आचार्यों ने रसों में स्वतन्त्र स्थान दिया है। इसी प्रकार वैष्णव आचार्यों ने भक्ति को भी स्वतन्त्र रस माना है। यदि मनोविज्ञान की दृष्टि से देखें तो वात्सल्य के स्थायी भाव स्नेह की जड़ हमारी सहजवृत्तियों (Instinct)

तक पहुँचती है और इसका विस्तार हमको पशु-पक्षियों में भी मिलता है। इसी कारण इसके लिए साहित्य-दर्पण के कर्ता विश्वनाथ ने 'स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः' कह वात्सल्य-रस की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार की है। शृङ्गार के व्यापक अर्थ में वात्सल्य को उसके अन्तर्गत कर सकते हैं क्योंकि दोनों ही रतियों में एक विशेष प्रकार की कोमलता रहती है जो एक सी होती हुई एक नहीं होती। फिर इनके आलम्बनों में भी भेद रहता है और सञ्चारी अनुभाव भी भिन्न-भिन्न होते हैं।

सूर के आलम्बन बालकृष्ण हैं। उद्दीपन रूप से उनके सौन्दर्य का सूर ने दिल खोल कर वर्णन किया है। एक गोपी कृष्ण की सुन्दरता के बारे में दूसरे से कहती है—

लाल गुपाल बाल छवि बरनत कवि कुल कर हैं हाँसी री।
सोभा सिंधु अगाध बोध बुध, उपमा नाहिन औरे री॥
जित देखों मन भयौ तितहिं कौ, भइ भरे को चोर री।
जो मेरी अँखियाँ रसना होतीं कहतीं रूप बनाइ री॥

अंतिम पंक्ति में 'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' का पूर्व रूप दिखाई पड़ता है। सूर ने इस भाव को अपने भ्रमर गीत से भी कई प्रकार से अपनाया है। भरे घर का चोर एक बड़ी सजीव उपमा है। इसके द्वारा सूर ने सौन्दर्य की अनन्तता और क्षण-क्षण में नवीनता का द्योतन किया है।

आलम्बन की चेष्टाएँ उद्दीपन के अन्तर्गत मानी गई हैं। सूर ने उद्दीपन के साथ आश्रयगत अनुभावों की भी छटा दिखाई है। देखिए:—

बोलत श्याम तोतरी बतियाँ, हँसि हँसि दतियाँ दूमें।
'सूरदास' वारी छबि ऊपर, जननि कमल मुख चूमें॥

नीचे की पंक्ति में वात्सल्य के अनुभाव हैं।

बाल चेष्टाओं के एक दूसरे चित्र के साथ यशोदा में गर्व सञ्चारी की भी झाँकी देखिए। इसमें आपको बालस्वभाव का भी सुंदर वर्णन मिलेगा।

हरि अपने आगे कछु गावत।
तनक-तनक चरननि सों नाचत, मनहीं मनहिं रिझावत॥
बाँह उँचाइ कजरी-धौरी गैयनि टेर बुलावत।
कबहुँक बाबा नन्द पुकारत, कबहुँक घर में आवत॥
माखन तनक आपने कर लै, तनक बदन में नावत।
कबहुँ चितै प्रतिबिंब खंभ में, लौनी लिये खवावत॥
दुरि देखति जसुमत यह लीला, हरखि अनंद बढ़ावत।
"सूर" स्याम के बाल-चरित ये नित ही देखत मन भावत॥

बालक दाम्पत्य प्रेम का मधुर फल है। वात्सल्य दाम्पत्य प्रेम की अंतिम परिणति है। नन्द यशोदा बालकृष्ण को अपने पास बुलाने की प्रतिस्पर्धा करते हुए अपना हर्षामोद बढ़ाते हैं। इस में भी हर्ष संचारी व्यंजित है। नीचे के पद में बालकृष्ण की बालोचित चेष्टाएँ भी देखिए:—

कबहुँक दौरि घुटरवनि लपकत, गिरत, उठत पुनि धावै री।
इतते नंद बुलाइ लेत हैं, उततैं जननि बुलावै री॥
दंपति होड़ करत आपस मैं स्याम खिलौना कीन्हों री।

माता की अभिलाषा जिसमें भविष्य की स्थिति पर हर्ष मिला हुआ है पढ़ने योग्य है। यशोदा मैया अपनी उत्कट अभिलाषा द्वारा सुख की पेशगी किश्त सी ले लेती है। प्रसन्नता और स्नेह के अनुभव भी साथ ही साथ दिखाई देते हैं, ऐसा मालूम होता है कि उनके स्नेह की अभिव्यक्ति पूरी ही नहीं होती।

नंद घरनि आनँद भरी, सुत स्याम खिलावै।
कबहुँ घुटरवनि चलहिंगे, कहि बिधिहिं मनावै॥
कबहिं दँतुली द्वै दूध की, देखौं इन नैननि।
कबहिं कमल-मुख बोलिहैं, सुनि हौं उन बैननि॥
चूमति कर-पद-अधर-भ्रू, लटकति लट चूमति।

यद्यपि वेदांतियों ने चिंताहीन जीवन की बड़ी प्रशंसा की है तथापि कुछ ऐसी कोमल और पावन चिंताएँ हैं जो जीवन को सरसता प्रदान करती हैं। किसी की चिंता का विषय न होना और किसी की चिंता न करना जीवन को नीरस बना देता है।

यशोदा की चिंता का सबसे सुन्दर वर्णन हमको वहाँ पर मिलता है जब कि कृष्ण वासुदेव और देवकी के पास पहुँच गये हैं। उस समय विशेष चिंता करने की आवश्यकता न थी क्योंकि कृष्ण बड़े भी हो चुके थे और अपने माता-पिता के पास थे। फिर भी यशोदा का हृदय चिंता से उमड़ा पड़ता है और वे देवकी का अधिकार स्वीकार करती हुई भी अपनी चिंता प्रकट करती हैं। यही सच्चा वात्सल्य भाव है। वे अपने प्रेमास्पद को भी अपनी चिंता का विषय होने से मुक्त नहीं समझतीं जैसे—

सँदेसौ देवकी सौं कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की मया करत ही रहियो॥
उबटन तेल और तातौ जल देखति हीं भजि जाते।
जोइ जोइ माँगत सोइ सोइ देती क्रम क्रम कै जु अन्हाते॥
प्रात उठत मेरे लाल लड़ैतेहिं माखन-रोटी भावै।
जदपि टेव तुम जानति उनकी, तऊ मोहिं कहि आवै॥

अनिष्ट-शंका भी इसी चिंता का एक रूप है। ऊपर की चिता अनावश्यक सी होती हुई प्रेम-प्रेरित होने के कारण अपना महत्व रखती है। उपर्युक्त पद में देवकी का पूर्ण रूप से अधिकार स्वीकार किया गया है। अधिकार स्वीकार कर लेने से चिता की गुञ्जाइश नहीं रहती है। इसीलिए इस पद में यशोदा का संकोच बड़ा उपयुक्त और मार्मिक है।

माता को अपना बालक काला भी प्यारा लगता है। वह उस पर गर्व करती है। माता बालकृष्ण पर गर्व दिखा कर उस हीनता-भाव को दूर करना चाहती है जो उसमें बालकों के खिझाने से हुआ होगा। पहले बालक की खीझ देखिए—

मैया, मोहि दाऊ बहुत खिझायौ।
मोसों कहत मोल को लीनो, तोहि जसुमति कब जायौ॥
कहा कहौं यहिं रिस के मारें, खेलन हौं नहिं जातु।
पुनि-पुनि कहत कौन है माता, को है तेरो तातु॥
गोरे नंद जसोदा गोरी, तू कत स्याम सरीर।
चुटकी दै-दै हँसत ग्वाल सब सिखै देत बलबीर॥

तू मोही कौं मारन सीखी, दाउहिं कबहुँ न खीझै।
मोहन कौ मुख रिसि-समेत लखि जसुमति मन अति रीझै॥
सुनहुँ कान्ह बलभद्र चबाई, जनमत ही को धूत।
'सूर' स्याम मोहिं गोधन की सौं, हौं माता तू पूत॥

गोधन की सौगंध खाना कितना स्वाभाविक है? बालक का मन समझाने के लिए वह बलभद्र को धूर्त भी कहती है। यशोदा कृष्ण की इसी खीझ को दूर करने के लिए उन पर अपना गर्व प्रगट करती है। यह गर्व दिखावटी नहीं है। यद्यपि यशोदा जानती थी कि बलराम जी कृष्ण को शुद्ध विनोद में ही खिझाते हैं तथापि वे भी थोड़ी-बहुत मर्माहत सी प्रतीत होती हैं। देखिए:—

मोहन, मानि मनायो मेरो।
हौं बलिहारी नंदनँदन की, नेकु इतै हँसि हेरो॥
कारो कहि-कहि तोहिं खिझावत, बरजत खरो अनेरो।
इन्द्र नील मनि तैं तन सुन्दर, कहा कहै बल चेरो॥
न्यारो जूथ हाँकि लै अपनो, न्यारी गाय निवेरो।
मेरो सुत सरदार सबनिकौ, बहुतै कान्ह बड़ेरो॥

वात्सल्य के गर्व में और शृङ्गार के गर्व में थोड़ा अंतर है। शृङ्गार का गर्व अहंमन्यता लिये होता है और वात्सल्य का गर्व अपने संबंध में नहीं होता, वह अपने प्रेमास्पद के संबंध में होता है।

यहां पर बाल-प्रकृति के अध्ययन का एक और उदाहरण लीजिए—

मैया, मैं गाय चरावन जैहौं।
तू कहि महर नंद बाबा सौं बड़ौ भयौ न डरैहौं॥
रैता पैता मना मनसुखा हलधर संगहिं रैहौं।
बँसी-बट-तर ग्वालनि के सँग खेलत अति सुख पैहौं॥
ओदन भोजन दै दधि काँवरि भूख लगे तैं खैहौं॥
'सूरदास' है साखि जमुन-जल सौंहं देहु जु नहैहौं॥

इस पद में बाल कृष्ण ने स्वयं ही माता की सब शंकाओं को आगे से सोच कर उत्तर दे दिया है। बालक के मन में जब किसी बात के लिए उत्सुकता होती है तब उसकी बुद्धि और कल्पना तीव्र गति से अपना व्यापार करने लगती है। बालक का, पिता की अपेक्षा, माता से निकट का सम्बन्ध होता है। इसीलिए बाल कृष्ण सीधे नन्द बाबा से नहीं कहते वरन् माता द्वारा कहलाते हैं। बालक अपने को बड़ा समझने में सुख पाता है। 'बडौ भयो न डरैहौं', वाक्य द्वारा माता की शंका का भी निवारण कर दिया गया है। इसीलिए वे आश्वासन दिलाते हुए कहते हैं—'रैता पैता मना मनसुखा हलधर संगहि रैहौं।" इसी के साथ वे अपनी निजी रुचि की बात कह देते हैं। माता यह चाहती है कि उसका बच्चा प्रसन्न रहे इसीलिए वे कहते हैं—"बंसी-बट-तर ग्वालनि के संग खेलत अतिसुख पैहौं। माता को बच्चे के खाने, पीने की जो चिंता रहती है उसका भी निवारण कर दिया।

सूर के वात्सल्य-वर्णन की विशेषता—सूरदास के इष्टदेव कृष्ण थे; इसलिए उनकी लीलाओं के वर्णन में उनको स्वाभाविक

रुचि थी। सूर की सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि जो कुछ उन्होंने लिखा अपने निजी निरीक्षण और अध्ययन से लिखा। उसमें उन्होंने श्रीमद्भागवत का अनुसरण नहीं किया। सोते हुए बालक की चेष्टाओं के सूक्ष्म निरीक्षण का एक उदाहरण लीजिए:—

जसोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै, दुलराइ मल्हावै, जोइ सोइ कुछ गावै॥

* * * *

कबहुँ पलक हरि मूँद लेत हैं, कबहुँ अधर फरकावै।

सोते हुए बालक को दूध पीने की चेष्टा में अधर फड़काना स्वाभाविक है किन्तु बड़े होने पर कृष्ण नटखटी करते हैं। डाट-फटकार मिलती है, दूध नहीं पीते तो उनका स्पर्द्धा भाव जागृत किया जाता है। दूध पीकर भी जब चोटी नहीं बढ़ती, तो वे बड़े भोलेपन से पूंछते हैं, मैया कबहिं बढैगी चोटी? वे माखन चोरी करते हैं, उलाहना मिलता है, उलूखल से बांधे जाते हैं, उहलना देने वालियों तक को दया आजाती है, कृष्ण जब माखन चोरी करते पकड़े जाते हैं तब कभी तो कह देते कि मैं इसे अपना घर समझ कर चला आया था या इस देही में चींटीं पड़गई थीं उन्हें निकाल रहा था। सूर ने वाल-प्रकृति का अच्छा निरीक्षण किया था और उसका जैसा वर्णन किया है वैसा वे ही लिख सकते हैं जिन्होंने कि स्वयं देखा हो। दूसरी बात यह है कि यद्यपि तुलसी की भांति सूर भी यह नहीं भूलते हैं कि उनके बाल कृष्ण ब्रह्म हैं तथापि वे उनकी बाल-सुलभ न्यूनताओं, नटखटी के कार्यों तथा चापल्य

का उद्‌घाटन करने में किसी बात से चूकते नहीं हैं। बालक का आकर्षण उसके भोलेपन, उसकी अपूर्णता और पूर्ण साम्यभाव में है। तुलसी के राम भी खेल खेलते हैं किंतु वे अपनी ऐश्वर्योपासना के कारण यह नहीं भूल सकते हैं कि उनके राम राजकुमार हैं। तुलसी के बालक राम भी मर्यादा के बन्धन में हैं। यद्यपि तुलसीदास जी ने राम की शैशव-चेष्टाओं का वैसा ही वर्णन किया है जैसा कि सूर ने, (कौशल्या भी राम को पालने में झुलाती हैं, पैदल चलना सिखाती हैं, उनके बड़े होने की अभिलाषा करती हैं) तथापि जब राम बड़े होजाते हैं तो वे नृपोचित वातावरण में ही खेलते हैं। रैंता-पैंता और मनसुखा की वहाँ पहुँच नहीं। वे राजकुमारों के साथ चौगान खेलने लगते हैं, और तुलसी उनके शील के उद्‌घाटन का भी मौका निकाल लेते हैं 'हारे हरष होत हिय भरत के, जिते सकुच सिर नयन नए।' उनके ऐश्वर्य का उद्‌घाटन किये बिना भी तुलसीदासजी नहीं रहते—

प्रभु बकसत गज बाजि बसन पुनि, जय धुनि गगन निसान हये।
पाइ सखा सेवक जाचक, भरि जनम न दूसरे द्वार गये॥

इसके विपरीत सूर के कृष्ण में पूर्ण साम्य भाव है। उनके सखा उनसे गायें चरवाते हैं और उनके खीझने पर उन्हें करारी झिड़की भी दे सकते हैं। देखिए:—

खेलत में को काको गुसैयाँ।
हरि हारे जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रिसैयाँ॥
जाति पाँति हमसे बड़ नाहीं, नाहीं बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत यातैं, अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ॥

रूहठ करे तासों को खेलै रहे बैठ जहँ तहँ सब ग्वैयाँ।
सूरदास प्रभु खेलोइ चाहत दाँव दियो करि नन्द दुहैयाँ॥

यह साम्य-भाव तुलसी में खोजने पर भी नहीं मिल सकता है। तुलसीदासजी राम से अपने दास्य-भाव के सम्बन्ध को भूल नहीं सकते हैं। माधुर्य के लिए जो स्वतन्त्रता और अपूर्णता चाहिए वह तुलसीदास जी अपने बाल-चरित-वर्णन में नहीं ला सके हैं। इसीलिए वे इस क्षेत्र में सूर के बहुत निकट पहुँच कर भी उनकी बराबरी नहीं कर सकते।

संयोग और वियोग शृङ्गार—सूर के शृङ्गार की पृष्ठ-भूमि यद्यपि आध्यात्मिक है, वे राधा कृष्ण को प्राकृतिक पुरुष नहीं मानते वरन् वे उनको प्रकृति और पुरुष का रूप मानते हैं, तथापि उनके वर्णन लौकिक हैं। सूर का उद्देश्य शृङ्गार का भौतिक आनन्द दिखाने का नहीं वरन् उसमें जो मानसिक तन्मयता आती है उसको दिखाना है। यद्यपि वे कहीं-कहीं नितान्त भौतिक धरा-तल पर उतर आये हैं तथापि कम से कम उनके लिए तथा कृष्ण-भक्तों के लिए वह आध्यात्मिक विषय ही रहा। उपनिषदों में आध्यात्मिक प्रेम का उपमान लौकिक प्रेम ही बनाया गया है 'योषां जारमिव प्रियं।' भरत मुनि ने भी शृङ्गारिक अनुभव को इतना ऊँचा उठाया है कि उसको, संसार में जो कुछ सुन्दर और पवित्र है, उसका उपमान बनाया है। 'यत्किञ्चित् लोके मेध्यं सुन्दरम्. तत्सर्वं शृङ्गाररसेनोपमीयते' तथापि शृङ्गार की भी सीमाएँ हैं। सूर ने कहीं-कहीं उस मर्यादा का उल्लंघन किया

है। हम उसका कालिदास के कुमार-सम्भव का उदाहरण देकर समर्थन नहीं करते किन्तु इतना अवश्य कहेंगे कि उन्होंने प्रेम के अंकुर के उदय होने से लगा कर उसके पूर्ण पल्लवित होने की जो श्रेणियाँ हैं उनका बड़ा मनोवैज्ञानिक वर्णन किया है। प्रथम आकर्षण (सूर स्याम देखत ही रीझे, नैन-नैन मिलि परी ठगौरी) के पश्चात् एक दूसरे के परिचय की उत्कंठा 'बूझत स्याम कौन तू गोरी, कहाँ रहति काकी तू बेटी ? देखी नाहि कहुँ ब्रज खोरी, के बाद मिलन की आवेगमयी उत्कंठा और पूर्व राग सम्बन्धी विरह-दशाओं का बड़ा उत्कृष्ट वर्णन हुआ है, देखिए:—

चित चंचल कुँवरि राधा, खान पान गई भुलाई
कबहूँ विलपति कबहूँ विहँसति सकुचि बहुरि लजाइ

सूर ने शृङ्गारिक भावनाओं की कहीं-कहीं बड़ी सुन्दर व्यञ्जनाएँ की हैं। कंप आदि का प्रत्यक्ष वर्णन न करके श्री कृष्ण की अव्यवस्थित चेष्टाओं द्वारा कंप की व्यञ्जना की है। साथ ही उसमें व्यंग्य-विनोद भी आगया है।

तुम पै कौन दुहावै गैया ?
इत चितवत उत धार चलावत, एहि सिखयो है मैया ?

गोपियों की मानसिक तन्मयता का भी सूर ने अच्छा वर्णन किया है, प्रेम की अतिशयता में प्रिय का नाम बाहर आने से रोके नहीं रुकता। इसी का चित्र देखिए:—

ग्वालिन प्रगट्यो पूरन नेहू,
दधि भाजन सिर पर धरे कहत गुपालहिं लेहू।

पुर वीथिन, पुर, गली, जहाँ तहाँ हरि नाऊँ।
समुझाई समुझत नहीं, सिख दै विथके गाँऊँ॥

शृंगार के अन्तर्गत आलम्बन के सौंदर्य का वर्णन आता है। इस सम्बन्ध में सूर ने एक से एक सुन्दर चित्र उपस्थित किये हैं। सूर शृंगार की यही विशेषता है कि उसका व्यापार ग्वाल-जीवन के प्राकृतिक सौन्दर्य से पूर्ण खुले क्षेत्र में बड़ी मर्यादा के साथ चलता रहता है। गोचारण कर लौटते हुए श्री कृष्ण जी का एक चित्र देखिए:—

नटवर वेष धरे ब्रज आवत।
मोर मुकुट मकराकृत कुण्डल कुटिल अलक मुख पर छवि पावत॥
भ्रकुटी कुटिल नयन, अति चंचल, यह छवि पर उपमा इक धावत।
धनुष देखि खंजन विवि डरपत उड़ि न सकत उड़िवै अकुलावत॥
अधर अनूप मुरली सुर पूरत गौरी राग अलापि बजावत।
सुरभी वृन्द गोपबालक संग गावत अति आनन्द बढ़ावत।
कनक मेखला कटि पीताम्बर निरतत मंदमंद सुर गावत।
सूरस्याम प्रति अंग माधुरी निरखत ब्रजजन के मन भावत॥

सूर ने मुख-मण्डल का वर्णन करते हुए नेत्रों की चञ्चलता का कारण भी दे दिया है। भौंह रूपी धनुष को देखकर खञ्जन डरते हैं उड़ना चाहते हैं और उड़ नहीं सकते, इसी कारण उनमें चञ्चलता है। सूर के सौन्दर्य के सिलसिले में नेत्र आलम्बन रूप से भी वर्णन किये गये हैं और आश्रय रूप से भी।

देखि री! हरि के चंचल नैन।

खंजन मीन मृगज चपलाई नहिं पटतर एक सैन ॥

* * * *

अरुन असित सित झलक पलक प्रति को बरने उपमाय ।
मनो सरस्वति गंग जमुन मिलि आगम कीन्हौं आय ॥

इसमें नेत्रों के तीनों रंग लेकर सूर ने नेत्रों की त्रिवेणी का सा पावन प्रभाव ही दिखाया है। मारने, जिलाने और उन्मत्त करने का प्रभाव नहीं दिखाया है। सौन्दर्य की पूर्णता और अनन्तता को आश्रय के दो छोटे नेत्रों की असमर्थता प्रकट कर सूर ने सौन्दर्य के आस्वाद करने वाले की मानसिक दशा का अच्छा चित्रण किया है।

जो विधिना अपबस कर पाऊँ ।

* * * *

लोचन रोम रोम प्रति माँगौं पुनि पुनि त्रास दिखाऊँ ।
इक टक रहै पलक नहिं लागै पद्धति नई चलाऊँ ॥

आश्रय के नेत्रों का एक और वर्णन लीजिए:—

अँखियन यही टेब परी

कहा करौं वारिज मुख ऊपर लागत ज्यौं भ्रमरी ।

इसमें दोनों उपमानों में भी वही सहज सम्बन्ध है जो दोनों उपमेयों में है।

संयोग शृंगार के अन्तर्गत दान-लीला, वसन्त, होली, मुरली और रास का विशेष स्थान है, मुरली से तो गोपियों ने असूया भाव (ईर्ष्या) भी प्रकट किया है। (मुरली हरि कौं नाच नचावत ।

ऐते पर यह बाँस-बँसुरिया नंद नँदन कौं भावति......हम पर रिस करि करि अवलोकत नासा पुट फरकावत। सूरस्याम जब जब रीझत है तब तब सीस डुलावत।) सूर ने अनुभावों के साम्य का कैसा अच्छा लाभ उठाया है? यह मुरली की तान जीवन की उस साम्यमय स्थिति की प्रतीक है जो जीवन को सरस और जीने योग्य बनाती है इसलिए आकुल जीवों के प्रतिनिधिरूप सखाओं के मुख से भी यही पुकार निकलती है-'छबीले मुरली नेकु बजाय!' रास के सम्बन्ध में सूर ने कई गतिमय चित्र उपस्थित किये हैं। उनमें गोपियों की तन्मयता भी दर्शनीय है।

गति सुगन्ध नृत्यत ब्रज-नारी।
हाव भाव सैन नैन दै दै रिझवति ब्रजनारी॥

❀ ❀ ❀

चंचल चलत भूमिये अचल, अद्भुत है वह रूप॥
नागरि सब गुननि आगरि, मिलि चलत पिय संग।
कबहुँ गावत कबहुँ नृत्यत, कबहुँ उघतट रग॥
मंडली गोपाल गोपी, अंग अंग अनुहारि।
सूर प्रभु धनि नवल भामिनि, दामिनि छवि डारि॥

उघटत रंग में थोड़ा हास्य-विनोद भी आगया है जो शृङ्गार का सहायक है।

भ्रमर गीत—सूर के वियोग शृङ्गार में क्षणिक वियोग का, जैसे रास करते समय अन्तर्ध्यान होने पर अथवा मान के अवसर पर, तो वर्णन है ही किंतु वियोग शृंगार का पूर्ण परिपाक तभी हुआ है जब श्रीकृष्ण जी अक्रूर के साथ मथुरा चले गये थे और वहाँ

से उद्धवजी द्वारा योग और निर्गुण ब्रह्म की उपासना का संदेसा भेजा है—'नैन नासिका अग्र हैं तहाँ ब्रह्म को वास। अविनासी विनसै नहीं, हो सहज ज्योति-प्रकास।' इसने जले पर नौन का काम किया। भ्रमर गीत के दो पक्ष हैं। यद्यपि उसमें वियोग शृङ्गार का प्राधान्य है तथापि उसमें निर्गुण और ज्ञान मार्ग का काव्यमय खण्डन भी है। सूर की गोपियाँ नन्ददास की गोपियों की भाँति बुद्धिवादिनी तो नहीं थीं जो दार्शनिक तर्क का उत्तर तर्क से देतीं वरन् उनको अपने निजी प्रेम की दृढ़ता थी, उनके हृदय में नन्द-नन्दन के अतिरिक्त और किसी के लिए गुँजाइश नहीं थी। 'कहौ मधुप कैसे समायँगे एक म्यान दो खाँडे?' गोपियों की उक्ति का सार था 'नन्दनन्दन अछत कैसे आनिए उर और।' रहीम ने ठीक ही कहा है:—

> जिन नयननि प्रीतम बस्यौ पर छवि कहाँ समाय।
> भरी सराय रहीम लखि, पथिक आप फिरि जाय॥

गोपियाँ 'तो मन नाहीं दस बीस' कहकर ही ऊधौ की पतङ्ग हाथों से ही काट देना चाहती थी किन्तु जब ऊधौ हटे ही रहे तब उन्होंने और युक्तियों से काम लिया। वे तो प्रत्यक्ष प्रमाण के आगे सब प्रमाणों को नीचा समझती थीं। वे स्वयं उद्धवजी से पूछने लग जाती हैं कि क्या तुमने उस ब्रह्म को देखा है? 'रेख न रूप बरन जाके नहिं, ताको हमें बतावत। अपनी कहौ दरस वैसे को तुम कबहू हौ पावत?' जब वे ज्ञानी ही उस निर्गुण का दर्शन नहीं प्राप्त कर सकते थे तब अबला गोपियों की कौन बात? इसी से तो वे पूछ बैठती हैं कि 'निर्गुण कौन

देस को बासी, इसका उत्तर बेचारे उद्धव देते भी क्या? इसलिये 'मौन ह्वै रह्यौ ठगौ सौ सूर सबै मति नासी।'

सूर की गोपियाँ आँखों की गवाही से प्रमाणित होने वाले साकार की उपासक थीं। वे तो कबीर के बताये हुये 'मैं तो तेरे पास में' वाले निर्गुण से सन्तुष्ट नहीं हो सकतीं थीं। 'उर से निकस क्यों न करत शीतल जो पै कान्ह यहाँ हैं।' उनको दृढ़ विश्वास था कि जो कृष्ण निर्गुण रूप से उनके हृदय में होते तो वे उनकी इतनी वेदना को कदापि न सह सकते 'जो पै हिरदै माँझ हरी, तो पै इतनी अवज्ञा उन पै कैसे सही परी?' गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी ऐसी ही बात कही थी—'पाहनते प्रगटे न हिए ते'। सूर की गोपियाँ व्यक्तित्व का महत्व जानती थीं। वे कृष्ण को ही चाहती थीं, उनके किसी पर्याय को नहीं।

दुइ लोचन जो विरद किए स्तुति गावत एक समान।
भेद चकोर कियौ तिनहू में विधु प्रीतम रिपु भान॥

जब चकोर सूरजचंद में भेद कर सकता है तब तो वे चैतन्य विशिष्ट गोपियाँ हैं। गोपियों को अपनी अनन्यता पर गर्व था उन्होंने मीन को अनन्यता का प्रतीक माना है। 'दादुर जल बिनु जियै पवन भखि, मीन तजै हठि प्रान'। मैंढक जल छोड़कर हवा खाकर रह सकता है। 'पवन भखि' में योग के प्राणायाम की ओर व्यंग्यात्मक संकेत हैं। इसके अतिरिक्त ऊधो मैंढक की सी टरटर भी कर रहे थे। गोपियों के लिए तो कृष्ण-भक्ति का मार्ग सीधा-सच्चा था; इसीलिए वे योग के ऊबड-खाबड़ रास्ते से

रहना चाहती थीं—उन्होंने ऊधौ से दो टूक बात कह दी 'काहे को रोकत मारग सूधौ। सुनहु मधुप निर्गुन कंटक ते राज पंथ क्यों रूधौ ?' गोपियों ने अपने मन की खीझ का बदला लेने के लिए योग की विषमता, कृष्ण के कालेपन, और कुब्जा की कुरूपता पर व्यङ्ग्य भी बड़े तीखे किये हैं। हारा हुआ मनुष्य अत्याचारी और विजेता पर व्यङ्ग्य करके अपनी श्रेष्ठता स्थापित कर मन का संतोष कर लेता है। ऐसा ही संतोष गोपियों ने किया। योगमार्ग सुकुमार गोपिकाओं की प्रकृति के विरुद्ध था—न तो वे उसके बाह्याडम्बर को ही अपना सकती थीं और न वे श्यामसुन्दर को छोड़कर रूपरेखहीन ब्रह्म में ही अपना मन लाना चाहती थीं। नीचे के पद में योग-मार्ग के विरुद्ध भक्ति-मार्ग की प्रतिक्रिया के काव्यमय रूप के दर्शनहोते हैं। इसकी अन्तिम पंक्ति में एक मुहावरे के आधार पर योग की भस्म लगाने की प्रवृत्ति पर सुन्दर व्यङ्ग्य भी है, देखिए:—

हमरे कौन जोग व्रत साधै ?
मृगत्वच, भस्म, अधारि, जटा को को इतनौ अवराधै।
ताकी कहूँ थाह नहिं पैए अगम, अपार, अगाधै ?
गिरधरलाल छबीले मुख पर इते बाँध को बाँधै ?
आसन, पवन, विभूति, मृगछाला ध्याननि को अवराधै ?
सूरदास मानिक परिहरि कै राख गाँठि को बाँधै ?

गोपियाँ कृष्ण के कालेपन पर गहरा व्यङ्ग्य करती हैं 'जोपै भले होत कहुँ कारे, तो कत बदल सुता लै जात' कृष्ण की राम से तुलना करते हुए वे एक चुटकी लेती हैं। 'हरि से भलो सो पति

सीता को, दूत हाथ उन्हें लिख न पठायो निगम ज्ञान गीता को'।
एक और व्यङ्ग्य देखिए:—

राम जनम तपसी जदुराई, तिहि फल बधू कूबरी पाई।
सीता विरह बहुत दुख पायो, अब कुबजा मिलि हियो सिरायो॥

कूबरी के कूबर और योग की निरर्थकता की हँसी उड़ाने वाला दुहरा व्यङ्ग्य देखिए:—

मधुकर कान्ह कहीं नहीं हो ही, रचि राखी पीठ ये बातें चकचौंही।

ये सब हास्य-व्यङ्ग्य असूया भाव से प्रेरित रति के ही सहायक और पोषक हैं।

विरह-वर्णन—सूर की गोपियों ने दुःख में अपना सहज चापल्य नहीं छोड़ा था किन्तु इन चापल्य की लहरों के भीतर विरह का बड़वानल धधक रहा था। इस विरह ने ही उनके संयोग के गाम्भीर्य को आलोकित किया। गोपियों का हास-विलास केवल जवानी की उठती हुई तरंग न थी जो सहज में विलीन हो जाती। विरह की अग्नि में वासना और ऐन्द्रिकता का कर्दम जल गया था और उनका प्रेम देदीप्यमान स्वर्ण हो निखर आया था। विरह द्वारा प्रेम के परिपुष्ट होने की बात को सूर ने इस प्रकार रूपकों द्वारा व्यक्त किया है, 'ऊधो! विरहौ प्रेम करै, ज्यों बिनु पुट पट गहै न रंगहि, पुट गहै रसहि परै, जौ काचौ घट दहत अनल तनु तो पुनि अमिय भरै।'

आचार्य शुक्लजी के शब्दों में हम कह सकते हैं कि गोपियों का प्रेम एक आकस्मिक घटना न थी वह सचमुच 'बिरवा' या बेल के

ही रूप में बढ़ा था। "बारे ते बलबीर बढ़ाई पोसी प्याई पानी" बाल-लीला यौवन-लीला में परिणत हो जाती है 'लरिकाई को प्रेम, कहौ अलि, कैसे करिकै छूटत'। बात यह है कि बाल्यकाल के संस्कार बड़े पक्के होते हैं। इसी कारण सूर की गोपियों में विद्यापति की गोपियों की तरह केवल रूप-लिप्सा ही नहीं है वरन् सहचार (Fellowship) की भावना भी अधिक है । कृष्ण के साथ केलि-विहार के सम्बन्ध-तन्तु सारे ब्रज में व्याप्त हो जाते हैं। संयोग का सुख, स्मृति रूप से विरह का उद्दीपन बन जाता है। उनको फूल भी शूल बन जाते हैं 'खटकत हैं वह सूर हिए में माल दई जो फूलन की।' विरह-पूर्ण मानसिक दशा के कारण उनके लिए सारी सृष्टि वेदनामय रूप धारण कर लेती है। 'हरि बिनु फूल फार से लागत, झरि झरि परत अंगार'। मानसिक दशा हमारी अनुभूति किस प्रकार बदल देती है इसका एक और उदाहरण लीजिए 'बिनु गोपाल बैरिन भई कुञ्जें। तब ये लता लगति अति सीतल, अब भई विषम ज्वाल की पुंजें।'

सूर ने विरह-वर्णन में व्यञ्जना-शक्ति का खूब प्रयोग किया है। गोपियाँ कृष्ण को ब्रज में न आने का संदेशा भेजती हैं और इसके द्वारा अपनी विरह दशा की व्यञ्जना कर देती हैं, 'सब बल्लभी कहति हरि सों ये दिन मधुपुरी रहौ। आज काल तुमहू देखत हो तपति तरनि सम चन्द। सिंह वृक सम गाय बीथिन बीथिन डोलत।' इस संदेश द्वारा गोपियों ने अपनी मानसिक दशा का भी वर्णन कर दिया। विरही को जब साक्षात् दर्शन

का सुख नहीं मिलता तब वह गुण-कथन, नाम-स्मरण लीलाओं के अनुकरण द्वारा एक प्रकार का मानसिक प्रत्यक्ष-सा कर लेता है। सूर ने कृष्ण की रूप-माधुरी के बड़े सुन्दर वर्णन कराये हैं। कृष्ण का रूप उनके वर्णन से बाहर है। रूप की अनन्तता ही तो उसे रमणीयता देती है और इसीलिए वह ब्रह्मानन्द का सा, 'गूंगे के गुड़' सदृश, वर्णनातीत रहता है। एक गोपी कहती है 'अलि हौं कैसे कहौं हरि के रूप रसहिं, मेरे तन में भेद बहुत विधि रसना न जानहिं नयन की दसहिं ? जिन देखे ते आँहि वचन विनु जिन्है वचन दरसन न तिसहिं' गोस्वामीजी की प्रसिद्ध उक्ति 'गिरा अनयन नयन विनु वानी' का इतना भाव-साम्य है कि कहा नहीं जा सकता कि किसने किससे यह उक्ति ली है या दोनों ने ही किसी तीसरे से ली है।

कृष्ण लीलाओं के अनुकरण में गोपियों का वर्णन देखिए–'एक ग्वारि गोधन लै रेंगत, एक लकुटि कर लेति—एक ग्वारि नटवर वहुलीला, एक कर्म गुन गावति'। नन्ददास जी ने तो गोपियों की तन्मयता को इतना बढ़ा दिया है कि उनकी कल्पना का बाह्य प्रेक्षण (Projection) हो गया है और वे कृष्ण को सामने से देखने लगती है। 'ऐसे में नन्दलाल रूप नैनन के आगे, आय गये छबि छाय बने पियरे उर बागे'। वे प्रार्थना करने लगीं 'दुख जलनिधि हम बूड़हीं कर अवलंबन देहु।'

विरह के उद्दीपन—सूर ने विरह-वर्णन की परम्परा के अनुकूल ऋतुओं का उद्दीपन रूप से वर्णन किया है किन्तु कहीं

कहीं उन्होंने उसमें बड़ी नवीनता उत्पन्न कर दी है। वर्षा को वे विरहिणी के शरीर में ही दिखलाते हैं। 'देखो माई नयनन सों घन हारे, बिन ही ऋतु बरसत निसि बासर सदा सजल दोऊ तारे।' वर्षा जब शरीर में ही हो तब वे उससे पीछा छुड़ा कर कहाँ जायँ? इसमें यह भी व्यञ्जना है कि कृष्ण ने ब्रज को वर्षा के कोप से बचाया था 'बूढ़त ब्रज को राखै, बिनु गिरवरधर प्यारे।' कभी वे बादलों में अपने प्रियतम की अनुहारि देख कर अपनी स्मृति को और भी सजीव और शायद सजल बना लेती हैं। 'आज घनश्याम की अनुहारि। उनै आये साँवरे सखि री लेहि रूप निहारि'। ऐसे वर्णनों में कृष्ण के घनश्याम नाम की सार्थकता हो जाती है।

सूर ने चन्द्र आदि उद्दीपनों को खूब कुसवाया है और गोपियों द्वारा इस बात पर भी खीझ प्रकट की है कि वे उद्दीपन मथुरा पहुँच कर कृष्ण को क्यों नहीं सताते? 'किधौं घन गरजत नहिं उन देसनि? किधौं वहि इन्द्र हठिहि हरि बरज्यौ, दादुर खाए शेषनि'।

विरह की तुलना—सूर ने भी प्राकृतिक वस्तुओं को विरह से व्याप्त दिखाया है किन्तु जायसी की भाँति प्रत्येक वस्तु में विरह की झलक नहीं देखी है—गेहूँ का हृदय विरह से फटा हुआ नहीं दिखलाया वरन् उन्हीं चीजों को लिया है जिनका कृष्ण से सम्बन्ध था। 'देखियत कालिंदी अति कारी। कहियौ पथिक जाय हरि सों ज्यों भई विरह जुर जारी।' इसमें 'ज्यों' द्वारा की हुई हेतूत्प्रेक्षा इसकी अस्वाभाविकता को बचा लेती है। कृष्ण के सम्बन्ध ही के कारण सूर ने मधुवन से प्रश्न पूछा

है कि 'तुम कत रहत हरे'।

तुलसी और सूर में यशोदा और कौशल्या का वात्सल्य सम्बन्धी विरह-वर्णन बहुत अंशों में एकसा है किन्तु 'संदेसो देवकी सौं कहियो', 'हौं तो धाय तिहारे सुत की' 'व्रज लीजो ठोक बजाय' की मार्मिक वेदना तुलसी में खोजने पर भी न मिलेगी। कौशल्या का शील कैकेई के प्रति कुछ कहने के लिए उनका मुँह बन्द किये हुए था। दशरथ थे नहीं वे कहतीं किससे? कहीं-कहीं कौशल्या का दैन्य कुछ बढ़ गया है। रामचन्द्र का धनुष तथा उनके घोड़े कौशल्या के विरह को उद्दीप्त कर सकते थे किन्तु उनकी पन्हैयों के उल्लेख में तुलसी का दास्य भाव भीतर से झाँकता हुआ दिखाई पड़ता है। सीताजी के विरह में राम के एक पत्नी-व्रत के कारण उपालम्भ और असूया का अभाव है। उसमें दैन्य और परिस्थिति की बेबसी है। कबीर का विरह केवल अलङ्कारिक है। यद्यपि सूर के भी पद मुक्तक की कोटि में आते हैं तथापि वे ऐसे स्फुट नहीं कि उनके कुछ कथा-प्रसङ्ग न हो।

विरह की वास्तविकता—अब यह प्रश्न होता है कि जब गोपियाँ इतनी निकट थीं तब वहाँ चली क्यों न गईं। इसी कारण सीता और राम की अपेक्षा गोपियों के विरह को आचार्य शुक्ल ने खिलवाड़ कहा है। प्रश्न स्थान की दूरी का नहीं था। दूर रहते हुए भी निकट हो सकते हैं। और निकट होते हुए भी दूर हो सकते हैं। दादुर कमल के पास होते हुए भी उसका रस नहीं लेता। 'दादुर बसै निकट कमलन के जन्म न रस पहिँचानै' गोपियों को दुःख इस बात का नहीं था कि कृष्ण

किसी दूर देश में हैं वरन् इस बात का था कि अब उनके प्रति उनका भाव बदल गया था। भाव बदल जाने पर एक छत के नीचे बैठे हुए भी दूर हो जाते हैं। 'मधुवन बसत बदलि गे वे,' 'माधव मधुप तिहारे, इतनिहिं दूर भये' कुछ औरै,' 'जोइ जोइ मगु हारे।' कृष्ण के राजा होने पर गोपियों ने बड़े ही मधुर व्यङ्ग्य कसे हैं 'हरि हैं राजनीति पढ़ि आये—राजधर्म सब भये सूर जहँ प्रजा न जायँ सताए।' इसकी तुलना गीतावली में सीता जी के लक्ष्मण द्वारा भेजे हुए सन्देश से ही कर सकते हैं 'पालिबी सब तापसिन ज्यों-राजधर्म विचारि'।

कला-पक्ष—सूरदास ने शान्त, शृंगार और वात्सल्य रसों को अपनाया था। उन्हीं रसों के अनुकूल उनकी भावाभिव्यक्ति का माध्यम गीति-काव्य था। गीति-काव्य प्रायः मुक्तक ही होता है। भावातिरेक उसकी प्रेरक शक्ति है। संक्षिप्तता और संगीत उसमें मुख्य आकारिक गुण हैं। आत्म-निवेदन भावातिरेक से सम्बद्ध उसका विषयगत लक्षण है।

भगवत् यश-कीर्तन सूर के जीवन का प्रधान कार्य था (नेत्र-हीन लोग प्रायः अच्छे गायक होते हैं) संगीत उनके काव्य का स्वाभाविक गुण था। सूर के प्रत्येक पद में मुक्तक की स्वतः पूर्णता है और उसमें साहित्य और संगीत का मणि-काञ्चन योग है। इन पदों में कथा-वर्णन अवश्य है किन्तु उसी मात्रा में जो गीति-काव्य में निभ सके। अर्थात् जितना कि गीति-काव्य की भावलहरी में बाधा न डाले। इसके अतिरिक्त उनका कथा-वर्णन इतिहासकार का सा निरपेक्ष नहीं है। उसमें उपासक के

हृदय का उल्लास और निजीपन है। उनका कथा-वर्णन इष्टदेव के गुणगान के रूप में होने के कारण एक प्रकार से आत्म-निवेदन का रूप धारण कर लेता है। उनके प्रत्येक पद में आत्मीयता की झलक है। पद के अन्त में सूर के प्रभु, सूरदास स्वामी, सूर-स्याम की छाप देकर सूर ने निजीपन स्थापित कर लिया है। सूर के अधिकांश पदों की यह विशेषता है कि पद की कुञ्जी पहली पंक्ति में आ जाती है। पद का शेषांश उसकी व्याख्या में होता है; इसी लिए उसमें कहीं-कहीं शिथिलता आ जाती है। अन्तिम पंक्ति में वे निजीपन की छाप डालकर उसका प्रगीतत्व सिद्ध करते हैं।

अलङ्कार—सूर की भाषा यद्यपि अलङ्कारों से बोझल नहीं है तथापि उसमें अलङ्कारों की कमी नहीं है। सूर ने अलङ्कारों का वहीं तक आश्रय लिया है जहाँ तक कि भावाभिव्यक्ति में वे सहायक हुए हैं। इसके अतिरिक्त सूर ने अलङ्कारों को सार्थकता प्रदान करने का भी उद्योग किया है। उन्होंने एक-एक उपमा की सार्थकता पर विचार किया है और उसके द्वारा मधुर व्यञ्जनाएं भी की हैं। देखिए:—

उपमा न्याय कही अंगन को।
मोर मुकुट सिर सुरधनु की छबि दूरहि ते दरसावै॥
जो काऊ करै कोटि कैसे हू नेकहु छुवन न पावै।
अलक, भ्रमर भ्रमि भ्रमत सदा बन बहु बेली रस चाखै॥
कमल-कोस बासा किहयत पै बंस-बंस अपनों मन राखत।

कुण्डल मकर, नयन नीरज से, नासा सुक कवि कुल गावै ।।
थिर न रहै, सकुचै निसि-बस ह्वै, पँजर रहिके बैन सुनावै।

इस पद में सभी उपमानों की सार्थकता दिखाकर कृष्ण भगवान् पर करारे व्यङ्ग्य किये हैं। उनका मोर-मुकुट इन्द्र-धनुष के समान अवश्य है किन्तु उसी के समान अप्राप्य भी है। उनकी अलकें भौंरे के समान हैं और उनमें भौंरे के से गुण भी हैं। वे कमलकोष से प्रेम अवश्य करते हैं किन्तु फिर भी बंस (बाँस और कुल) को अपनाते हैं। अन्तिम पंक्ति में क्रम अलंकार भी है।

सूर में अलङ्कारों की ध्वनि के भी अच्छे उदाहरण मिलते हैं। प्रतीप की ध्वनि का उदाहरण नीचे दिया जाता है।

तब तें इन सबहिन सचु पायो ।
जब तें हरि संदेस तिहारौ सुनत ताँबरो आयो ।।
फूले व्याल दूर तें प्रगटे, पवन पेट भरि खायो।
ऊँचे बैठ विहंग सभा बिच कोकिल मंगल गायो ।।

इसमें सूर ने यह दिखलाया है कि राधा के अंगों से लज्जित होकर उनके उपमान—जैसे केशों से लज्जित होकर सर्प बिलों में छिप गये थे और कोकिल कंठ-ध्वनि सुनकर जंगल में चली गई थी—अब राधा के अंग द्युतिहीन होने के कारण उन उपमानों को प्रसन्नता हो रही है कि अब उनका प्रतिद्वन्द्वी कोई न रहा। सूर में प्रायः सभी अलङ्कार मिल जाते हैं। सूर के साङ्ग रूपक अपनी साङ्गता में पूर्ण हैं। देखिए:—

प्रभु हौं सब पतितन कौ राजा ।
पर निन्दा मुख पूरि रह्यौ, जग यह निसान नित बाजा॥
मंत्री काम कुमति दैंवे कों क्रोध रहत प्रतिहारे।

परम्परित रूपकों के भी अनेकों उदाहरण मिल जाते हैं–सूर ने कहीं-कहीं एक रूपक पर दो रूपक बाँधे हैं—'हैं जो मनोहर बदन चंद के सादर कुमुद चकोर, परम तृषारत सजल स्याम घन के जो चातक मोर', नेत्र के रूपकों की सूर ने लड़ी बाँध दी है। सूर ने एक से एक बढ़िया उत्प्रेक्षाएँ भी दी हैं। उनकी उत्प्रेक्षाएँ सहेतुक हैं, देखिए:—

चमकत मोर चन्द्रिका माथे, कुञ्चित अलक सुभाल।
मनहु कमल कोस रस चाखन, उड़ि आये अलिमाल॥

रूपकातिशयोक्ति में उनका 'अद्भुत एक अनूपम बाग, जुगल कमल पर गजवर क्रीड़त, तापर सिंह करत अनुराग' वाला पद स्वयं ही अद्भुत है। रूपकातिशयोक्ति में उपमेय को दबा कर उपमान ही उपमेय का द्योतक होता है। यहाँ कमल अर्थात् चरणों पर टांगें [गति को गज से उपमा दी जाती है] क्रीड़ा करती हैं, उस पर कटि देश सुशोभित है। संसार में कमल पर गज नहीं ठहर सकता, गज कमल को उखाड़ कर फेंक देता है और सिंह गज से बैर रखता है किन्तु यहाँ सौन्दर्य के प्रभाव से सब निर्वैर हो गये हैं। यह भाव इसमें व्यञ्जित है।

सूर में भी तुलसी की भाँति उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि समतामूलक अलङ्कारों का बाहुल्य है किन्तु विषमतामूलक

अलङ्कारों का भी अभाव नहीं है।

व्यतिरेक—

खञ्जन मीन मृगज चपलाई, नहिं पटतर एक सैन।
राजिवदल, इन्दीबर, सतदल, कमल कुसेसय जाति,
निसि मुद्रित, प्रातहि विकसत, ये विकसत दिन राति

भाषा—सूर की भाषा शुद्ध व्रज-भाषा है। यदि उनको साहित्यिक व्रज-भाषा का निर्माता कहा जाय तो कुछ अनुचित न होगा क्योंकि उनके पहले किसी कवि में व्रज-भाषा को ऐसा साहित्यिक और सुव्यवस्थित रूप नहीं मिलता। उनसे पहले सेन आदि कवियों का उल्लेख हुआ है किन्तु न तो उनका समय ही निश्चित है और न उनकी कविता पर्याप्त मात्रा में मिलती है। खुसरो ने भी व्रजभाषा की कविता की है और कबीर में भी व्रज-भाषा के पद मिलते हैं किन्तु सूर में व्रजभाषा का जैसा सागर लहराया है वैसा अन्यत्र नहीं। सूर में व्रजभाषा का पूर्ण माधुर्य निखर आया है और उन्होंने उसे और भी कोमल बना दिया है। संयुक्त वर्णों का जहाँ तक हुआ है उन्होंने बहिष्कार किया है और जहाँ संयुक्त वर्ण हैं वहाँ स्वरागम करके उनको अमीलित कर दिया है। विश्वास के लिए विसास, युक्ति के लिए जुगुति, जन्म के लिए जनम, भक्ति के लिए भगति, क्रोध के लिए किरोध का प्रयोग किया है। उन्होंने पंचम वर्ण के स्थान में भी अनुस्वार का व्यवहार किया है। कोमल बनाने के लिए वे 'श' के स्थान में स और 'ण' के स्थान में 'न' को काम में लाये हैं। सूर में प्राकृत

के लोयन, सायर, नाह, केहरि आदि शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। उन्होंने शब्दों को तोड़ा-मोड़ा अवश्य है किन्तु बहुत कम। छंद के लिए कहीं-कहीं ह्रस्व का दीर्घ और दीर्घ का ह्रस्व अवश्य किया है। फ़ारसी, अरबी भाषा के शब्दों का सूर ने प्रयोग यत्र-तत्र किया है किन्तु उनका रूप हिन्दी का सा कर दिया है। जैसे मसाहत, बाँकी, दर, मुहकम, जियान (हानि के लिए), मिलिक, जेरो (ज़ेर-नीचा) आदि बहुत से फ़ारसी अरबी के शब्द मिलते हैं। मुहावरों की सजीवता सूर में देखी जाती है बहुतायत के साथ नहीं, 'कैसे खैयतु हाथिन के संग गाँडे', 'काकी भूख गई बयारि भखि', तुमसों प्रेम कथा कौ कहिवौ मानौ काटिवौ घास', 'वह मथुरा काजर की कोठरि जे आवहिं ते कारे'। 'हमारे हरि हारिल की लकरी' 'कत पटपर गोता मारत हौ निरे भूंड के खेत' 'खोटी खाई' 'कारी कामर चढै न दूजौ रंग' 'न्हात खसै जनि बार'।

सूर की भाषा अपनी कोमलता और सजीवता के कारण ब्रज-भाषा का शृङ्गार है।

५

गोस्वामी तुलसीदास

आनन्दकानने ह्यस्मिन् तुलसो जङ्गमस्तरुः ।
कवितामञ्जरी यस्य रामभ्रमरभूषिता ॥

* * * *

कुलि कुटिल जीव निस्तार हित वाल्मीकि तुलसी भयो ।

जीवन-वृत्त—

गोस्वामी तुलसीदास जी केवल कवि ही नहीं थे वरन् वे परम मर्यादावादी भक्त और धर्मोपदेशक भी थे। रामभक्ति ही उनकी कविता की प्रेरक शक्ति थी। उनका जीवन और उनकी कविता दोनों ही राममय थीं। राममय होने के कारण मर्यादा-पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र जी की भांति उनका काव्य भी मर्यादा से अनुप्राणित और शक्ति, शील और सौन्दर्य के दैवी गुणों से सम्पन्न था।

गोस्वामी तुलसीदास जी के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में हमको

बाह्य—(गो० गोकुलनाथ जी की दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता सं० १६१५) नाभादास जी की भक्तमाल (सं० १६४२) बाबा वेणीमाधवदास का गुसांई चरित (सं० १६८७), भक्तमाल की प्रियादासजी की टीका (सं० १७६६) तथा जनश्रुति और आन्तरिक (कवितावली, विनयपत्रिकादि में जीवन सम्बन्धी उल्लेख) दोनों प्रकार की साक्षियाँ मिलती हैं। बाह्य साक्षियों की अपेक्षा अन्तःसाक्ष्य अधिक महत्व रखता है। उसको आधार मान कर उनके जीवन-चरित्र का निर्माण हो सकता है और कुछ स्थलों की पूर्ति बाह्य लिखित साक्षी और जनश्रुति के आधार पर की जा सकती है।

जन्म संवत्—इसके लिए हमको जनश्रुति तथा बाह्य साक्ष्य पर निर्भर रहना होगा। बाबा वेणीमाधवदास के अनुकूल गोस्वामी जी का जन्म संवत् १५५४ में हुआ और जनश्रुति के हिसाब से सं० १५८९ माना जाता है। यद्यपि गोस्वामी जैसे संयमी पुरुष के लिए १२६ वर्ष की आयु असम्भव नहीं तथापि ८१ वर्ष की आयु भी कम सन्तोषजनक नहीं है। इसके अतिरिक्त बाबा वेणी माधवदास जी के हिसाब से रामचरितमानस को ७७ वर्ष की आयु में लिखा जाना मानना पड़ेगा। वह ऐसा समय है जब कि मनुष्य की इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं और जीवन-उत्साह कम रह जाता है; इसलिए जनश्रुति अधिक मान्य है।

माता-पिता—गोस्वामी जी के माता पिता का नाम भी बाह्य साक्ष्य के आधार पर मानना पड़ेगा किन्तु इसमें भी मतभेद

है। जनश्रुति के अनुसार उनके पिता का नाम आत्माराम दुबे था और बाबा रघुबरदास जी के तुलसी-चरित के अनुसार इनका नाम मुरारी मिश्र था। माता के नाम के सम्बन्ध में अन्तःसाक्ष्य और वाह्य साक्ष्य एकमत है। वे हुलसी के पुत्र थे तुलसीदास हित हिय हुलसी सी—रा० च० मा०।

इनके जन्म-स्थान के विषय में बड़ा मतभेद है। कोई लोग राजापुर मानते हैं और पण्डित रामनरेश त्रिपाठी प्रमुख विद्वान् उनका जन्म-स्थान सूकर क्षेत्र के आधार पर सोरों मानते हैं। कुछ समन्वयवादी कहते हैं कि उनका जन्म सोरों में हुआ, पीछे से वे राजापुर में रहने लगे।

जाति और कुल—यह तो निश्चित है कि गोस्वामीजी जाति के ब्राह्मण थे (जायो कुल मंगन, वधावनो बजायो सुनि, भयो परिताप पाप जननी जनक को)। ये सरयूपारी ब्राह्मण थे अथवा कान्य-कुब्ज ? इस विषय में पण्डितों में मतभेद है। जो जिस जाति का है वह उन्हें उसी जाति का मानता है। उन्होंने स्वयं भी जाति-पाँति को बहुत महत्त्व नहीं दिया है—"धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहौ जुलहा कहौ कोऊ।"

नाम—तुलसीदासजी का घर का नाम रामबोला था (राम को गुलाम नाम रामबोला राख्यौ राम) बाबा रघुबरदास ने इनका नाम तुलाराम बतलाया है। रामबोला नाम इसलिए पड़ा कि जन्म लेते ही उन्होंने राम का नाम लिया था। सम्भव है

तुलाराम उनका असली नाम हो, रामबोला पीछे से साधुओं ने रख लिया हो।

बाल्य-काल—तुलसीदासजी का बाल्य-काल कष्ट में बीता। इस सम्बन्ध में उनकी स्वयं गवाही है कि वे घर से निकाल दिये गये थे और इस कारण यह स्वाभाविक ही था कि उनको द्वार-द्वार मांगना पड़ा हो। इस सम्बन्ध में कवित्तावली से दो उद्धरण देना पर्य्याप्त होगा—

'मात पिता जग जाहि तज्यो विधिहू न लिखी कछु भाल-भलाई।'

* * *

'बारे ते ललात बिललात द्वार-द्वार दीन
जानत हौं चार फल चारि ही चनक को।

* * *

दीक्षा और गुरु—गोस्वामी तुलसीदास जी रामानन्द जी की सम्प्रदाय में दीक्षित थे। इन्होंने अपने गुरु को नर-रूप हरि कहा है। (वन्दौं गुरुपद कञ्ज कृपासिन्धु नर-रूप हरि) इसी आधार पर लोग उनको नरहरिदास कहते हैं। सम्भव है कि उन्होंने अपने गुरु को साक्षात् परमात्मा माना हो। यह भी सम्भव है कि वास्तविक नाम नरहरि हो और गोस्वामीजी ने उनके नाम की सार्थकता बताई हो। कुछ लोग उनको स्मार्त वैष्णव बतलाते हैं। इसके दो आधार हैं, एक तो यह कि उन्होंने १६३१ की रामनवमी मङ्गलवार की मानी है—'नवमी भौमवार मधुमासा, अवधपुरी यह चरित प्रकासा'। गणना से उस वर्ष रामनवमी मंगलवार

को दोपहर के समय आती है। स्मार्त वैष्णव दिन के बीच में आई हुई तिथि को मानते हैं तथा अन्य वैष्णव लोग केवल उदया तिथि को, अर्थात् जिस दिन जो तिथि सूर्योदय के समय हो उसे मानते हैं। दूसरा आधार यह है कि तुलसीदासजी ने मानस तथा विनय-पत्रिका में अन्य देवताओं की भी वन्दना की है। सूरदासजी ने केवल हरि की ही वन्दना की है 'वन्दौं चरण-कमल हरिराई'। फिर भी वे राम के अनन्य भक्त थे क्योंकि और देवताओं से भी उन्होंने (बसहिं राम-सिय मानस मोरे) की भीख माँगी है अन्य देवताओं की स्तुति उनके मर्यादावाद का फल हो सकती है।

काशी की तत्कालीन परिस्थिति तथा महामारी का भी उन्होंने वर्णन किया। उत्तरकालीन जीवन में उनको यश और मान पर्याप्त मिला 'घर-घर माँगे टूँक पुनि भूपति पूजे पाँय'। किन्तु पीछे बीमारी (बाहु-पीड़ा) के कारण दुःखी हो गये थे—'साहसी समीर के, दुलारे रघुवीर जू, के बाँह पीरि महावीर बेग ही निवारिए' और ऐसा मालूम होता है कि यह पीर बहुत दिनों तक रही, तभी तो वे लिखते हैं—'चेरो तेरो तुलसी, तू मेरो कह्यो रामदूत ! ढील तेरी बीर मोहि पीरतें पिरात है।'

स्वर्गवास—स्वर्गवास के सम्बन्ध में यह दोहा प्रसिद्ध है—

संवत सोरह सो असी, असी गंग के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर॥

कुछ लोग श्रावण शुक्ला सप्तमी के स्थान पर इस दोहे का पाठ श्रावण श्यामा तीज शनि मानते हैं। गोस्वामीजी के अनन्य

मित्र टोडरमल के वंशज भी इसी तिथि को मानते हैं।

ग्रन्थ—तुलसीदासजी के वैसे तो बहुत से ग्रन्थ बतलाये जाते हैं किन्तु प्रामाणिक रूप से बारह ग्रन्थ माने जाते हैं, उनमें छः बड़े हैं और छः छोटे हैं।

१. रामचरितमानस—रचनाकाल-सं० 1631 रामनवमी। विषय-राम कथा (लवकुश कथा को छोड़ कर)। छंद संख्या-मानस मयंक के हिसाब से ५१०० चौपाई कुल छंद ६६६०। प्रधान छंद एवं भाषा-मुख्यतया दोहा, चौपाई, छप्पय, भुजंग-प्रयात आदि, भाषा-पश्चिमी अवधि। विशेषता-प्रबन्ध काव्य पूर्ण मर्यादा का पालन; हिन्दू-धर्म का राम-भक्ति-प्रधान रूप इसमें आजाता है।

२. विनय-पत्रिका—रचनाकाल-गुसाई-चरित के अनुसार १६२६; अन्य विद्वान् १६६६ मानते हैं। विषय—कलिकाल के विरुद्ध भगवान् के दरबार में आवेदन पत्र, विमल विचार एवं उपदेश। छंद संख्या—२८०। प्रधान छंद एवं भाषा—गेयपद संस्कृत गर्भित व्रज भाषा। विशेषता—मुक्तक परन्तु क्रमानुकूल है, यह संग्रह-ग्रन्थ नहीं है। एक विशेष विधान के अनुकूल लिखा गया है।

३. कवित्तावली वा कवित्त रामायण—रचनाकाल-रुद्रवीसी और मीन की सनीचरी के उल्लेख से अनुमान होता है कि कुछ छंद सं० १६६६ के बाद लिखे गये होंगे। विषय-रामचरित, कुछ आत्मचरित तथा विनय। छंद संख्या—३२५ छंद। प्रधान छंद एवं

भाषा—कवित्त, सवैये, व्रज-भाषा । विशेषता—मुक्तक, कथा-सूत्र कुछ विच्छिन्न सा है, कम से कम उत्तरकाण्ड में । संग्रह-ग्रन्थ प्रतीत होता है ।

४. गीतावली—रचनाकाल-गुसाँई चरित के अनुसार सं० १६२८; अन्य विद्वान् इसे १६४६ का मानते हैं । विषय—रामचरित, विशेष कर उसके कोमल भावों वाले स्थल, युद्ध आदि का वर्णन नहीं है । छंद संख्या—३२८ छंद । प्रधान छंद एवं भाषा—गेयपद व्रज-भाषा । विशेषता—मुक्तक, कथा-सूत्र विच्छिन्न सा है । किन्तु इस पर कृष्ण-काव्य का अधिक प्रभाव है विशेष कर बाल और क्रमानुकूल उत्तरकाण्डों में । बाल काण्ड के कुछ पद सूर के पदों से ज्यों के त्यों मिलते हैं । जैसे, आँगन फिरत घुटरवुन धाए ।

५. कृष्ण गीतावली—रचनाकाल राम गीतावली के साथ बनी । विषय—कृष्ण चरित की स्फुट लीलाएँ । छंद संख्या—६१, प्रधान छंद एवं भाषा—गेयपद, व्रज-भाषा । विशेषता—मुक्तक, तुलसीदासजी की उदार भावना की परिचायक है ।

६. दोहावली—रचनाकाल—गोसाँई चरित में १६६० है किन्तु इसमें घटनाएँ १६८० तक की हैं । विषय—नीति, रामगुण-गान, तत्कालीन परिस्थितियों का वर्णन । छंद संख्या—५७६ दोहे जिनमें ८५ मानस के हैं । प्रधान छंद एवं भाषा—दोहा, छंद । विशेषता—पूर्णतया मुक्त, संग्रह-ग्रन्थ है ।

७. रामलला नेहछू—रचनाकाल शृङ्गारिकता का कुछ अधिक पुट होने से प्रारम्भिक रचना मानी जाती है । विषय—

कौशल्या और अवधपुरी के उल्लेख के कारण यज्ञोपवीत के समय की कथा मानी जाती है। छंद संख्या—२०। प्रधान छंद एवं भाषा—सोहर छंद, विवाहादि के अवसर पर गाने योग्य छंद भाषा—पूर्वी, अवधी। विशेषता—खण्ड काव्य; शृङ्गार कुछ अमर्यादित हो गया है। इसके लिए दशरथ दोषी हैं, राम नहीं।

८. वैराग्य संदीपनी—रचनाकाल-गुसाँई चरित के अनुसार सं० १६६६। विषय—धर्म और ज्ञान के साधारण सिद्धान्त, सन्त लक्षण आदि। छंद संख्या—६२। प्रधान छंद एवं भाषा—दोहे, सोरठे, चौपाई। विशेषता—मुक्तक, संग्रह-ग्रन्थ है।

९. बरवै रामायण—रचनाकाल—गुसाँई चरित के अनुसार सं० १६६६। विषय—राम कथा सम्बन्धी स्फुट घटनाएँ। छंद संख्या—६६। प्रधान छंद एवं भाषा—बरवै छंद पूर्वी अवधी भाषा। विशेषता—मुक्तक, अलङ्कार अधिक हैं।

१०. पार्वती-मंगल—रचनाकाल-जय संवत् १६४३। विषय—शिव-पार्वती विवाह। छंद संख्या—१६४। प्रधान छंद एवं भाषा—अरुण या मंगल एवं हरिगीतिका। विशेषता—कुमार-सम्भव से प्रभावित खण्ड-काव्य।

११. जानकी मंगल—रचनाकाल—जय संवत् १६४३। विषय-राम-जानकी-विवाह। छंद संख्या—२१६। प्रधान छंद एवं भाषा-अरुण और हरिगीतिका, अवधी भाषा। विशेषता—वाल्मीकीय से प्रभावित खण्ड-काव्य।

१२. रामाज्ञा प्रश्न—रचनाकाल—गुसाँई चरित के अनुकूल १६६६। विषय—राम कथा, कुछ विच्छिन्न रूप में, शकुन उठाने के

लिए लिखा गया। छंद संख्या—३४३। सात सर्गों में सात सात के सात सप्तक। प्रधान छंद एवं भाषा—दोहे। विशेषता—मुक्तक।

सामाजिक विचार—गोस्वामीजी पूर्ण वर्णाश्रम धर्म-व्यवस्था के मानने वाले थे। वे ब्राह्मणों के बड़े भक्त थे। उन्होंने ब्राह्मण की पूजा को भक्ति का एक साधन माना है। स्वयं श्री रामचन्द्रजी अपने श्रीमुख से कहते हैं—

पुण्य एक जग में नहिं दूजा। मन क्रम वचन विप्र पद पूजा॥
सानुकूल तेहिपर पुनि देवा। जो तजि कपट करइ द्विज सेवा॥

किन्तु गोस्वामीजी ब्राह्मणों के उत्तरदायित्व को भी पहचानते थे। वे इस बात से दुखी थे कि कलियुग में लोगों ने वर्णाश्रम धर्म को छोड़ रक्खा है—

वरन-धर्म नहिं आस्रम चारी। स्रुति-विरोध रत सब नर नारी॥
द्विज स्रुति वंचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन॥
विप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार रत वृषली स्वामी॥

वे कबीर की ही भाँति मिथ्याडम्बर के खिलाफ़ थे, देखिए—

असुभ वेष भूषन धरे, भच्छाभच्छ जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्धनर, पूज्य ते कलियुग माहिं॥

इसी प्रकार वे शूद्रों के यज्ञोपवीत धारण करने तथा ब्रह्मज्ञान की चर्चा करने के भी विरोधी थे—

सूद्र द्विजनि उपदेसहिं ज्ञाना। मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना॥
वादहिं सूद्र द्विजन्ह सन, हम तुम ते कछु घाटि।
जानहिं ब्रह्म सो विप्र वर, आँखि देखावहिं डाँटि॥

तुलसीदासजी समाज की व्यवस्था के लिए यह अवश्य समझते थे कि लोग शास्त्र के अनुशासन में रहें। स्वेच्छाचार के वे विरोधी थे क्योंकि उसके कारण समाज में एकसूत्रता नहीं रहती। इसी प्रकार वे स्त्रियों को भी पति के अनुशासन में रखना चाहते हैं। जहाँ पर उन्होंने पतिव्रत धर्म का पक्ष लिया वहाँ उन्होंने एक पत्नीव्रत को ही आदर्श माना है। उनके श्रीराम एक पत्नीव्रत के आदर्श नायक थे। रामराज्य में भी उन्होंने बतलाया है कि सब लोग एक पत्नीव्रत को धारण करते थे—

एक नारि-व्रत-रत सब झारी। ते मन बच कर्म पति हितकारी॥

तुलसीदासजी जिन बातों को समाज की बुराई समझते थे उनको कलियुग में दिखाया है और जिन बातों को अच्छा समझते थे उनको रामराज्य में दिखाया है। तुलसीदासजी ने दोनों ही चित्र इसलिए उपस्थित किये हैं कि लोग समझ लें कि समाज में क्या अच्छा और क्या बुरा है। तुलसीदासजी राम-भक्त होते हुए भी सामाजिक परिस्थितियों से उदासीन न थे। उनकी कवि-दृष्टि समाज और राज्य के दोषों तक गई थी 'राज समाज कुसाजि कोटि कटु कलपित कलुप कुचाल नई है'।

एक आक्षेप—'गोस्वामीजी स्त्री और शूद्रों के प्रति अनुदार थे' ऐसा लोग प्रायः कहते हैं। इसमें कुछ सत्य भी है किन्तु उनकी अनुदारता उनकी निजी अनुदारता नहीं है वरन् वह तत्कालीन सामाजिक विचारों की छाया है। इसके अतिरिक्त 'ढोल गँवार

सूद पसु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी' ये तुलसी के सिद्धान्त-वाक्य नहीं हैं, समुद्र द्वारा कहे हुए दीनता के वचन हैं। तुलसी ने जहाँ स्त्री की बुराई की है वहाँ स्त्री की अपेक्षा विषय-वासना की बुराई समझना चाहिए। फिर भी तुलसीदासजी ने नारी की भाँति पुरुषों को 'अघ की खानि' नहीं कहा है।

दार्शनिक विचार—गोस्वामीजी एक विरक्त महात्मा थे। राम उनके लिए सर्वस्व थे। वे दार्शनिक वादों के वाग्जाल से सदा दूर रहना चाहते थे। संसार सत्य है अथवा झूठ है अथवा दोनों, ऐसे प्रश्नों को उन्होंने भ्रम कहा है। आत्म-साक्षात्कार में इस मतवाद को बाधक माना है।

जो परिहरे तीन भ्रम सो आपन पहँचाने।

फिर भी दर्शन-शास्त्र की मुख्य समस्याओं (जगत्, जीव, ईश्वर के वास्तविक स्वरूप और उनके पारस्परिक सम्बन्ध तथा मनुष्य की सद्गति और उसके साधन) पर प्रसङ्गानुकूल अपने विचार प्रकट किये हैं। यद्यपि गोस्वामीजी के समय में कई दार्शनिक वाद*चल रहे थे तथापि वे शाङ्कर-सम्प्रदाय से जिसका पण्डित-समाज में व्यापक प्रभाव था और रामानुज सम्प्रदाय से जिसके अन्तर्गत उनकी दीक्षा हुई थी (रामानन्दी सम्प्रदाय विशिष्टाद्वैत का ही एक रूप है। रामानुजाचार्य ने नारायण की

*(१) शङ्कराचार्य (जन्म सम्वत् ८४५) का अद्वैतवाद

(२) रामानुजाचार्य (जन्म सम्वत् १०७३) तथा उनकी शिष्य परम्परा में आए हुए रामानन्दजी का विशिष्टाद्वैतवाद

उपासना बतलाई थी। रामानन्दजी ने राम को नारायण माना और दीक्षा देने में जाति पाँति के सम्बन्ध में कुछ अधिक उदारता दिखाई। (कबीर, रैदास, पीपा, सैना आदि उन्हीं के शिष्य थे) गोस्वामीजी रामानन्दजी से अधिक प्रभावित थे। गोस्वामीजी जैसे समन्वयवादी राम-भक्त को जो संसार को सिया-राम मय जानते थे किसी वाद-विशेष के घेरे में बाँधना अनुचित होगा। किन्तु गोस्वामीजी के विचार समझने से पूर्व इन दोनों सम्प्रदायों के मूल सिद्धान्तों का दिग्दर्शन कर देना आवश्यक होगा।

शङ्कराचार्य का अद्वैतवाद—शाङ्कर-मत का मूल सिद्धान्त यह है कि ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है अर्थात् वह रस्सी में सांप की तरह ब्रह्म में भासित होता है, वह व्यवहार में सच्चा है किन्तु परमार्थ में झूठा है। ब्रह्म स्वयं निर्विकार रहता है, उसमें कोई

---

(३) वल्लभाचार्य (जन्म सं० १५३५) का शुद्धाद्वैत (इसकी व्याख्या सूरदास के सिलसिले में की गई है।)

(४) मध्वाचार्य (ज० सं० १२५४–१३३४) का द्वैतवाद—यह मत जीव ब्रह्म, जीव और जड़ पदार्थों को अलग-अलग मानते हैं।

(५) निम्बार्काचार्य (ज० सं० १२१९) का द्वैताद्वैतवाद—यह मत जीव और ब्रह्म को एक भी मानता है और अलग भी।

इसके अतिरिक्त गोरख-पंथियों और कबीर-पंथियों के हठयोग प्रधान मत भी जनता में अपना प्रभाव जमा रहे थे। नम्बर ३, ४, ५, का कृष्ण-भक्ति से विशेष सम्बन्ध है। नम्बर २ ने राम-भक्ति शाखा को प्रभावित किया। नम्बर १ का प्रभाव व्यापक था।

परिवर्तन या परिणाम नहीं होता है। वह अद्वितीय और निर्गुण है। उसमें किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं है। न उसमें सजातीय भेद है (जैसे मनुष्य-मनुष्य का) न विजातीय भेद है (जैसे मनुष्य और गौ का) और न स्वगत भेद है (जैसे हाथ, सिर और पैर का) जीव और ब्रह्म एक है। जो भेद दिखाई पड़ता है वह अविद्या के कारण है। जगत् का जो आभास है वह माया के कारण है। परम तत्त्व ब्रह्म है। ईश्वर जीव की भाँति ब्रह्म का सगुण रूप है। यह गुण सब माया के ही हैं। ईश्वर के सम्बन्ध में जो चीज माया कहलाती है वही चीज जीव के सम्बन्ध में अविद्या कहलाती है। परमार्थ में केवल ब्रह्म ही सत्य है। न सगुण ईश्वर रहता है और न जीव। ये सब माया और अविद्या के खेल हैं। संक्षेप में शाङ्कर मत के सिद्धान्त इस प्रकार बतलाये गये हैं—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' अर्थात् ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, जीव ब्रह्म ही है, दूसरा नहीं है।

रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैतवाद—विशिष्टाद्वैत जीव और ब्रह्म तथा जगत् की अद्वैतता मानता है। किन्तु उस अद्वैतता को विशेषतायुक्त बना देता है। चित (जीव) और अचित्त (अर्थात् जड़ जगत्) ये दोनों उसके विशेषण रूप से उसके साथ लगे हुए हैं। इसीलिए यह विशिष्टाद्वैतवाद कहलाता है। इन तीन पदार्थों—चित, अचित और ईश्वर तीनों की अन्विति हरि में है। अर्थात् तीनों मिलकर हरि है—

ईश्वरश्चिदचिच्चेति पदार्थ त्रितयं हरिः।

रामानुज के मत से संसार असत् नहीं रहता। जीव का जीवत्व भी मिथ्या नहीं है। वे लोग ब्रह्म में सजातीय और विजातीय भेद तो नहीं मानते हैं क्योंकि ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई पदार्थ नहीं है किन्तु ब्रह्म के भीतर ही (जैसे अंगुली, अंगुली का, हाथ-पैर का, नाक-कान का) जीव-जीव और जीव ब्रह्म का भेद मानते हैं।

तुलसीदासजी का मत—तुलसीदासजी को कोई तो (जैसे पं० गिरिधर शर्मा, डाक्टर बलदेवप्रसाद मिश्र, पं० श्रीधर पन्त) अद्वैतवादी कहते हैं और कोई (जैसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, श्री वियोगी हरि, डाक्टर रामकुमार वर्मा) उनको विशिष्टाद्वैतवादी कहते हैं। यद्यपि उनको किसी एक सम्प्रदाय के भीतर बाँधना तो कठिन है तथापि हमको यह जान लेना चाहिए कि उन्होंने क्या कहा है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है वे शाङ्कर-मत से प्रभावित अवश्य हैं। संसार के सम्बन्ध में तो उन्होंने मायावाद की पदावली का प्रचुर रूप से प्रयोग किया है। 'रज्जौ यथाहेर्भ्रमः' 'बूड़ो मृगवारि', 'सपने होइ भिखारि नृप, रंक नाकपति होइ। जागे हानि न लाभ कछु, तिमि प्रपंच जिय जोइ॥' उन्होंने संसार को धुआँ का सा महल कहा है। 'धुआँ के से धोरहर'। तुलसीदासजी ने माया शब्द का भी प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है। 'गो-गोचर जहँ लगि मन जाई। तहँ लगि माया जानेहु भाई॥' तो क्या वास्तव में तुलसीदासजी संसार को असत्य ही मानते थे? इस सम्बन्ध में जहाँ तक मैं

समझता हूँ गोस्वामी जी ने संसार को माया, स्वप्न और धुआँ का महल उसके प्रति वैराग्य उत्पन्न करने को कहा है। सच्चा भक्त संसार में आसक्ति नहीं रख सकता है। उसके लिए तो परमात्मा ही परमात्मा है। संसार का अस्तित्व उसके लिए नहीं के बराबर है किन्तु अयोध्या और चित्रकूट की जो महिमा उन्होंने गाई है वह उनको मिथ्या समझ कर नहीं। वे ऐसी अभिलाषा प्रकट करते हैं 'खेलिवे को खग-मृग तरु किंकर ह्वै रावरो राम हों रहि हौं।' वे सारे जगत् को परमात्मा का ही रूप मानते हैं। 'प्रकृति, महत्तत्व, शब्दादि, गुन, देवता, व्योम-मरुदग्नि, अमलाम्बु, उर्वी, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, प्रान, चित्तात्मा, काल परमानु चिच्छक्ति गुर्वी। सर्वमेतदतव रूप भूपालमनि! व्यक्तमव्यक्त गतभेद विष्णो।' जब वे सभी वस्तुओं को राम का रूप मानते हैं तब कोई चीज झूठी किस प्रकार हो सकती है?

तुलसीदासजी शङ्कराचार्य की भाँति परमार्थ और व्यवहार में भेद नहीं करते मालूम होते हैं। वे स्वयं दाशरथी राम को जिनका अवतार अवधपुरी में हुआ था विधि हरिहर से परे परब्रह्म मानते हैं। उनके राम निर्गुण-सगुण सब कुछ हैं। 'बरद, बनदाभ वागीस विस्वात्मा, विरज वैकुण्ठ-मन्दिर-विहारी, नित्य निर्मोह, निर्गुन, निरंजन, निजानन्द, निर्वान, निर्वानदाता' यह एक ही पद के दो अंश हैं। पहले पद में उनको सगुणताद्योतक विशेषण हैं और दूसरे में निर्गुणताद्योतक। राम नाम को उन्होंने परम परमार्थ का सार कहा है। राम नाम प्रेम परम

परमारथ को सार है। ऐसी अवस्था में उनके लिए व्यवहार और परमार्थ की द्विधा नहीं रह जाती है। तुलसीदासजी में जीव और ब्रह्म के भेद सम्बन्धी चौपाइयाँ अभेद सम्बन्धी चौपाइयों की अपेक्षा अधिक हैं। जो लोग उनको अद्वैतवादी मानते हैं वे इन चौपाइयों की यही व्याख्या करते हैं कि तुलसीदासजी ने व्यवहार में तो जीव और ब्रह्म का भेद माना है किन्तु परमार्थ में नहीं। वे कहते हैं कि जब शङ्कराचार्य अद्वैतवादी होकर भी भक्त हो सकते थे तब तुलसीदास जी के लिए क्या आपत्ति थी कि वे अद्वैतवादी होकर भक्त न हो सके। शङ्कराचार्य और तुलसीदासजी में यह अन्तर है कि शङ्कराचार्य भक्ति को साधन मानते थे तुलसीदासजी साध्य मानते थे। भक्ति से वे आगे नहीं जाना चाहते थे।

अस विचारि हरि भगत सयाने।
मुक्ति निरादर भगति लुभाने।

जीव और परमात्मा का भेद भक्ति-भावना के लिए आवश्यक है। इसीलिए वे जीव और परमात्मा का भेद इस प्रकार बतलाते हैं—

माया बस्य जीव अभिमानी। ईस बस्य माया गुन खानी॥
परवस जीव स्ववस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता॥
माया ईस न आप कहँ, जानि कहिए सो जीव।
बंध मोच्छप्रद, सर्व पर, माया प्रेरक सीव॥

* * * *

माया बस परिच्छिन्न जड़, जीव कि ईस समान।

गोस्वामीजी ने जीव को अंशांशी भाव से ब्रह्म का अंश माना है। शाङ्करमत के अनुकूल ब्रह्म में, अंशांशी भाव की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अंशांशी भाव की कल्पना भी विशिष्टाद्वैत के ही अधिक अनुकूल बैठती है। जो लोग गोस्वामी जी को अद्वैतवादी मानते हैं वे कहते हैं कि गोस्वामीजी ने व्यवहार में ही अंशांशी भाव माना है, परमार्थ में नहीं। अद्वैतवाद के पक्ष में नीचे की चौपाई दी जाती है—

ईश्वर अंश जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥
सो माया बस भयेउ गुसाईं। बंधेउ कीट मरकट की नाईं॥
जड़ चेतनहिं ग्रन्थि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥

इसका अद्वैतवादी अर्थ लगाने में अंशांशी भाव बाधक होता है, दूसरी अर्द्धाली शाङ्करमत के अधिक अनुकूल है किन्तु इसका भी विशिष्टाद्वैत के पक्ष में अर्थ लगाया जा सकता है। जीव माया के प्रलोभन में पड़कर तोते और मर्कट (बन्दर) की भाँति विशेष बन्धन में पड़ जाता है। शङ्कर के मत से माया के कारण व्यक्तित्व के बन्धन में पड़कर वह जीव संज्ञा को प्राप्त होता है और आवागमन के चक्कर में पड़ता है और रामानुज के मत से इसका अर्थ होगा कि व्यक्तित्व विशिष्ट जीव सांसारिक प्रलोभनों में पड़कर बन्धन में पड़ जाता है। तीसरी अर्द्धाली मायावाद के सबसे अधिक अनुकूल है। मायावादी लोग माया को मिथ्या मानते हैं। 'जदपि मृषा छूटत कठिनाईं।' तुलसीदास-जी की भक्तिभावना जो कि रामचन्द्रजी को चन्द्र बनाकर अपने

को चकोर बनाए रखना चाहती है (रामचन्द्र चन्द्र तू चकोर मोहि कीजै) जीव को ईश्वर से पृथक् व्यक्ति मानने के अधिक अनुकूल है।

भक्ति-भावना—गोस्वामीजी की भक्ति-भावना सेव्य-सेवक भाव की थी।

'सेव्य-सेवक भाव बिनु भव न तरिय उरगारि।'

सेव्य-सेवक भाव को तुलसीदासजी ने केवल इसीलिए अपनाया कि उसमें अहङ्कार भावना नहीं रहने पाती है। सच्चा भक्त अपना व्यक्तित्व परमात्मा के व्यक्तित्व में मिला देता है।

साथ ही को गोत गोत होत गुलाम को।

गोस्वामीजी ने यद्यपि ज्ञान और भक्ति में अन्तर नहीं माना है तथापि श्रेष्ठता भक्ति भावना को ही दी है।

ज्ञानहि भक्तिहि नहिं कुछ भेदा।
उभय हरहिं भवसंभव खेदा॥

इतना होते हुए भी तुलसीदासजी ने ज्ञान को दीपक कहा है और भक्ति को चिन्तामणि, जो स्वयं अपने प्रकाश से प्रकाशित होती है और जिसको माया की वायु बुझा नहीं सकती है।

राम भगति चिन्तामनि सुन्दर। बसइ गरुड़ जाके उर अन्तर॥
परम प्रकास रूप दिन राती। नहिं कुछ चहिअ दिया घृत बाती॥

तुलसीदासजी ने ज्ञान के विरुद्ध दो मुख्य उक्तियाँ दी हैं। एक तो यह कि ज्ञान में प्रत्यूह (विघ्न) बहुत से हैं। और दूसरी यह कि वह पुरुष होने के कारण माया से मोहित हो सकता है,

भक्ति इस प्रकार मोहित नहीं हो सकती 'मोहै न नारि नारि के रूपा'।

तुलसीदासजी की भक्ति की यही विशेषता है कि वह नीति-परक थी। बड़े अधिकारियों के नौकरों की भाँति कुछ निजी दास होने का अभिमान रखने वाले भक्त नियम और मर्यादा की परवाह नहीं करते। तुलसीदासजी उनमें से न थे—

प्रीतिराम सो, नीति पथ चलिए, रागरिस जीति।
तुलसी संतन के मतै, इहै भगति की रीति॥

❀ ❀ ❀

चलत नीति मग रामपद नेह निबाहब नीक।

साहित्यिक आदर्श—यद्यपि गोस्वामीजी ने रघुनाथ गाथा स्वान्तःसुखाय लिखी थी तथापि वे कोरे कलावादी न थे, वे काव्य को सर्व भूत हित के लिए ही मानते थे। उनके मत से यश, वाणी और धन-वैभव वही श्रेष्ठ है जो कि गंगाजी के समान सबका हितकारी हो।

कीरति भनित भूति भल सोई। सुरसरि सम सब,कहँ हित होई॥

स्वान्तःसुखाय से उनका केवल यही अभिप्राय था कि वे किसी प्रलोभनवश नहीं लिखते थे। प्राकृत अर्थात् सांसारिक मनुष्यों के लिए लिखना वे सरस्वती देवी को व्यर्थ परिश्रम देना समझते थे।

कीन्हे प्राकृत जन गुन गाना। सिरधुनि गिरा लागि पछिताना॥

वे काव्य की कला की अपेक्षा उसके विषय (रामचरितवर्णन)

को अधिक महत्व देते थे, देखिए:—

एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान स्त्रुति सारा॥

गोस्वामीजी आलोचकों को नहीं भूले हैं। वे स्वान्तः-सुखाय लिखते हुए भी अपनी वाणी का साधु समाज तथा बुध-जनों में आदर चाहते थे। साधु समाज में आदर पाने से ही कवि की वाणी सार्थक होती है।

होहु प्रसन्न देहु वरदानू। साधु-समाज भनित सन्मानू॥
जो प्रबन्ध बुध नहिं आदरहीं। सो स्रम वादि बाल कवि करहीं॥

तुलसीदासजी ने कवि और भावक (आलोचक) का कार्य अलग माना है। उनके मत से कविता की शोभा आलोचक के यहाँ ही निखरती है।

मनि मानिक मुकुता छबि जैसी। अहि गिरि गजसिर सोहत तैसी॥
नृप-किरीट तरुनी तनु-पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई॥
तैसेहि सुकवि कवित्त बुध कहहीं। उपजहिं अनत अनत छवि लहहीं॥

तुलसी का भाव-पक्ष—काव्य के भाव-पक्ष में भाव और विभाव दोनों ही आते हैं क्योंकि भाव निरालम्ब नहीं होते हैं। भावों के जाग्रत करने की शक्ति विभाव में होना आवश्यक है नहीं तो भाव 'धूआँ के से धौरहर' (धूआँ के महल) की भाँति निराधार रह जाते हैं। विभाव उसे कहते हैं जो भाव को विशेष रूप से उत्पन्न करता है। इसके दो अंग होते हैं—आलम्बन और उद्दीपन। भाव की जाग्रति के मुख्य कारण को आलम्बन कहते हैं और सहायक कारण को उद्दीपन। तुलसी के काव्य के

प्रधान आलम्बन मर्यादापुरुषोत्तम राम हैं। रामचरितमानस की सारी कथा उन्हीं के सहारे अग्रसर होती है। तुलसी के राम विधि हर शम्भु नचावनहारे ब्रह्म और विष्णु के दोनों ही अवतार हैं। लेकिन वे भक्तों के हित के लिए मानव-लीला करते हैं। तुलसी ने केवल अपनी गवाही से ही नहीं वरन् राम के उदात्त गुणों द्वारा उनके नरत्व में नारायणत्व की झाँकी दिखा दी है।

काव्य में उदात्त भावों की अभिव्यक्ति के लिए आलम्बन में उदात्त गुणों की आवश्यकता होती है। तुलसी ने अपने चरित नायक सम्बन्धी विभिन्न परिस्थितियों में विकसित होने वाले शील के विभिन्न अङ्गों और रूपों की झाँकी दिखलाकर जनता को सीधे उपदेश द्वारा नहीं वरन् सजीव उदाहरण द्वारा शिक्षा दी है, इसलिए उनका काव्य स्वान्तःसुखाय होते हुए भी लोक-हिताय बन गया है। तुलसी का सारा भावपक्ष राम और उनके परिवार के शील, शक्ति और सौन्दर्य के दैवी गुणों के उद्‌घाटन में प्रसारित हुआ है।

रस—तुलसी की रससृष्टि भी इन दैवी गुणों के आश्रित है और वह उनके चरित्र-चित्रण से समन्वित है। हमारे यहाँ चरित्र-चित्रण भी विभाव से सम्बन्धित होने के कारण रस का अङ्ग बन जाता है। शृङ्गार और वात्सल्य का सम्बन्ध सौन्दर्य से है। हास्य कहीं शृङ्गार का सहायक हुआ है और कहीं वीर का। करुण रस भी शील पर अवलम्बित है क्योंकि करुण में परदुख-कातरता अधिक रहती है। वीर, रौद्र, भयानक और वीभत्स

शक्ति के आश्रित हैं। शान्त में सभी गुणों का आधार है किन्तु शील से उसका विशेष सम्बन्ध है। तुलसी ने प्रायः सभी रसों की सृष्टि की है किन्तु सारी कथा भगवान् की लीला का रूप होने के कारण उनके सभी रस एक प्रकार से शान्त अथवा भक्ति रस के अधीन हैं।

शृङ्गार रस—तुलसी के मर्यादावाद के कारण यह रस कुछ गौण स्थान पाते हुए भी कवि की कलम के जादू के कारण अपना रस-राजत्व प्रमाणित कर देता है। तुलसी ने काव्य की परम्परा का प्रतिपालन करते हुए पुष्प-वाटिका के दृश्य के सहारे पूर्वराग की छटा दिखाई है। इसमें वे 'प्रसन्न-राघव' से प्रभावित हैं। उसमें भी मर्यादा को वे अक्षुण्ण रखते हैं। रामचन्द्रजी पुष्प-वाटिका में जाते हैं किन्तु वहाँ भी वे मर्यादा का पूर्ण पालन करते हैं। मालियों से पूछे बिना फूल नहीं तोड़ते हैं। 'चहुँ दिसि चितइ पूँछि माली गन। लगे लेन दल फूल मुदित मन ॥' गुरु की पूजा के लिए फूल चुनने में वे इतने दत्तचित्त रहे कि सीता के आगमन की खबर भी उनको कंकन किंकिन नूपुर धुनि (ये शब्द स्वयं ध्वन्यात्मक और संगीतमय है) से ही लगती है। वे सीताजी की ओर टकटकी लगाकर देखते हैं किन्तु तुलसी ने वहाँ भी एक पौराणिक कथा के सहारे टकटकी की व्याख्या करते हुए मर्यादा का निर्वाह कर दिया है।

अस कहि फिर चितए तिहि ओरा।
सिय मुख ससि भये नयन चकोरा ॥

भये विलोचन चारु अचंचल।
मनहुँ सकुचि निमि तजे दृगंचल॥

ऐसा पौराणिक विश्वास है कि जनकजी के पूर्व पुरुष राजा निमि पलकों पर वास करते हैं। उनके ही कारण पलक मारने की क्रिया होती है और उनके ही नाम पर पलक मारने के समय को निमिष कहते हैं।

रामचन्द्रजी सीताजी को देख रहे हैं वहाँ जनकजी के पूर्व पुरुष किस प्रकार ठहर सकते हैं? (यह भी मर्यादाप्रेरित है) मानों इसीलिए उनका पलक मारना बन्द हो गया है। आगे देखिए:—

तात जनक तनया यह सोई। धनुष जज्ञ जेहि कारन होई॥
पूजन गौरि सखी लेइ आई। करत प्रकास फिरइ फुलवाई॥

'करत प्रकास फिरइ फुलवाई' इन चार शब्दों में गोस्वामीजी ने सीताजी के सौन्दर्य का भरपूर वर्णन कर दिया है। फिरइ फुलवाई में तो सौन्दर्य के लिए जैसे वातावरण की आवश्यकता थी वैसा वातावरण उपस्थित कर दिया गया है। करत प्रकास में सीता के सौन्दर्य और रामजी के मन पर पड़े हुए प्रभाव दोनों का ही वर्णन आ गया है। इतना मन विचलित होने पर तुलसीदासजी ने मति सञ्चारी (आत्म निश्चय) द्वारा मर्यादावाद की स्थापना कर दी है। कालिदास के शकुन्तला नाटक में भी दुष्यन्त ऐसी ही बात कहते हैं। मानस में रामचन्द्रजी कहते हैं:—

जासु विलोकि अलौकिक सोभा, सहज पुनीत मोर मन छोभा।
सो सब कारन जान विधाता, फरकहिं सुभग अंग सुन भ्राता॥

रघुवंसिन्ह कर सहज सुभाऊ, मन कुपंथ पग धरइ न काऊ।

वियोग शृङ्गार के हमको सीताहरण के पश्चात् बहुत सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। श्री रामचन्द्रजी की उन्माद दशा वियोग पर शान चढ़ा देती है:—

लछिमन समझाये बहु भाँती, पूंछत चले लता तरु पाँती।
हे खग-मृग, हे मधुकर स्रेनी, तुम देखी सीता मृगनैनी॥

मेघदूत में ठीक ही कहा है:—

'कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु'।

सीताजी के लंका पहुँच जाने पर हनूमानजी द्वारा विरह के संदेशों का जो विनिमय हुआ है वह बड़ा मार्मिक है। हनूमानजी रामजी का संदेश कहते हैं:—

कहेहू ते कछु दुख घटि होई। काहि कहौं यह जान न कोई।
तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा॥
सो मन रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रस इतनेहिं माहीं॥
प्रभु सन्देस सुनत वैदेही। मगन प्रेम तनु सुध नहिं तेही॥

सीताजी का संदेश और भी मार्मिक है, देखिए:—

अवगुन एक मोर मैं माना। बिछुरत प्रान न कीन्ह पयाना॥
नाथ सो नयनन कर अपराधा। निसरत प्रान करहिं हठ बाधा॥
विरह अगिनि तनु तूल समीरा। स्वास जरइ छन माँह सरीरा॥
नयन स्रवहिं जल निजहित लागी। जरइ न पाव देह विरहागी॥

सच्चे विरह में प्राण नहीं रह सकते। सीताजी प्राण नहीं छोड़ सकीं, इसको वे अपराध रूप से स्वीकार करती हैं। किन्तु वे

अपने अपराध की सफ़ाई भी देती हैं। वह यह कि शरीर के जल कर भस्म हो जाने के सब कारण उपस्थित हो जाने पर भी शरीर नहीं जलता है। इसका उत्तरदायित्व नेत्रों पर है। विरह रूपी अग्नि है, शरीर रुई है निश्वास हवा है, जब अग्नि को प्रज्वलित करने वाली हवा भी मौजूद है तब शरीर जला क्यों नहीं? इसका यह कारण है कि नेत्र दर्शन के स्वार्थवश होकर जल की वर्षा कर देते हैं। इसलिए आग बुझ जाती है और शरीर बच जाता है। कितना काव्यमय कारण है?

वीरलक्ष्मणजी वीरोत्साह की मूर्ति हैं उनकी उक्ति पढ़िए:—

रघुवंसिन्ह महँ जहँ कोउ होई, तिहि समाज अस कहइ न कोई।
कही जनक अस अनुचित बानी, विद्यमान रघुकुल-मनि जानी॥
सुनहु भानुकुल पंकज-भानू, कहउँ सुभाउ न कछु अभिमानू॥
जौं तुम्हार अनुसासन पावउँ, कंदुक इव ब्रह्मांड उठावउँ॥
काचे घट जिमि डारउँ फोरी, सकउँ मेरु मूलक इव तोरी॥
तव प्रताप महिमा भगवाना, का बापुरो पिनाक पुराना॥

इसमें उत्साह आदि से अन्त तक है। गर्व (रघुवंसिन्ह महँ जहँ कोइ होई), धृति (कहउँ सुभाव न कछु अभिमानू) आदि सञ्चारी हैं।

शान्त रस—वैसे तो तुलसी की सभी रचनाएँ शान्त रस का ही उदाहरण हैं क्योंकि उनके मूल में भक्तिभावना है किन्तु विनय-पत्रिका और कवित्तावली के उत्तरकाण्ड में शुद्ध शान्त रस ही है। शृङ्गारप्रधान बरवै रामायण के उत्तरकाण्ड में भी शान्त

रस है। संसार का अनित्यता की ओर ध्यान दिलाने वाला पश्चात्ताप प्रधान नीचे का पद देखिए—

मन पछितैहै अवसर बीते।
दुर्लभ देह पाइ हरिपद भजु, करम, बचन अरु ही ते॥
सहसबाहु दसबदन आदि नृप, बचे न काल बली ते।
हम-हम करि धन-धाम सँवारे, अंत चले उठि रीते॥
सुत बनितादि जानि स्वारथ रत, न करु नेह सबही ते।
अंतहुँ तोहि तजैंगे पामर ! तू न तजै अबही ते॥
अब नाथहिं अनुराग जागु जड़ त्याग दुरासा जीते।
बुझै न काम-अगिनि तुलसी कहुँ, विषय-भोग बहु घी ते॥

इसमें निर्वेद स्थायी भाव है और संसार की अनित्यता देखकर ज्ञानजन्य वैराग्य का उपदेश है। इसमें वैराग्य और विवेक के लिए युक्तियाँ होने से वितर्क संचारी भी है। विनय-पत्रिका में दैन्य के अच्छे-अच्छे उदाहरण मिलते हैं।

द्वार हौं भोर ही को आज।
रटत रिरिहा आरि न कौर ही ते काज॥

*   *   *

दीनता दारिद दलै को कृपावारिध बाज।
दानि दसरथ राय के तुम बानइत-सिरताज॥
जनम को भूखो, भिखारी हौं गरीब-निवाज।
पेट भरि तुलसिहि जँवाइए भगति-सुधा सुनाज॥

शान्त रस के अन्तर्गत सञ्चारी रूप से हमको अद्भुत, रौद्र, वीर वीभत्स के भी उदाहरण मिलते हैं। अद्भुत का उदाहरण

नीचे दिया जाता है, देखिए:—

केसव कहि न जाय का कहिये।
देखत तब रचना विचित्र अति, समुझि मनहि मन रहिये॥
सून्य भीति पर चित्र, रंग नहिं तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोये मिटै न, मरै भीत, दुख पाइय इहिं तनु हेरे॥

इसमें औद्भुत्य की भावना उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है।

चरित्र-चित्रण—रस-विधान में चरित्र-चित्रण विभाव-वर्णन के अन्तर्गत आता है। सच्चा कवि अपने प्रत्येक पात्र के साथ भाव-तादात्म्य कर उसका चरित्र-चित्रण करता है। यद्यपि कवि के नाते तुलसी ने अपने सभी पात्रों की आत्मा में प्रवेश किया है तथापि भरत, हनुमान, सुग्रीव और विभीषण के साथ उनका विशेष तादात्म्य है और उनमें तुलसी की सेवा और शरणागत भावनाएँ पूर्णतया मुखरित हो उठी हैं।

तुलसी के पात्र सात्विक, राजस और तामस तीनों प्रकृतियों के हैं। सात्विक पात्रों में राम और भरत विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। राजस गुण लक्ष्मणजी में प्रधानतया देखने में आता है और तामस गुण रावणादि में है। तुलसी के पात्रों में एक विशेष रूप की दृढ़ता और आत्म-संगति है। पार्वतीजी कहती हैं 'जन्म कोटि लगि रगर हमारी, कै बरहुँ संभु न तु रहौं कारी', इसी प्रकार दशरथजी कहते हैं—'प्राण जायँ पर वचन न जाहीं' श्री रामचन्द्रजी भी अपनी शरणागत वत्सलता में दृढ़ हैं। रावण भी अन्त तक शम्भु शरासन की भाँति टस से मस नहीं होता।

पात्रों में परिवर्तन कहीं-कहीं हुआ है—वह रामचन्द्रजी के प्रभाव दिखलाने के लिए—परशुरामजी गरम से ठण्डे पड़ जाते हैं। मंथरा की वाक्-पटुता और उदासीनता के कुशल अभिनय से कैकेयी का भाव-परिवर्तन हुआ था किन्तु धीरे-धीरे। मंथरा दासियों का नमूना अवश्य है किन्तु उसका वाक-कौशल उसको साधारण टायप से ऊँचा उठा देता है। भरत में राम का शील प्रतिबिम्बित है तो कुछ राजसी गुण लेकर लक्ष्मण में उनकी शक्ति की छाया है, समुद्र पर कोप करते समय दोनों की प्रकृति मिल जाती है । परशुराम संवाद में तो इतनी नहीं किन्तु भरत-आगमन के समय तथा सुमन्त को विदा करते समय दोनों भाइयों के चरित्र का अन्तर स्पष्ट झलक उठता है।

तुलसी के संवाद विशेष कर लक्ष्मण परशुराम संवाद, कैकेई-मंथरा संवाद, रावण-अंगद संवाद, रावण-मंदोदरी संवाद बड़े सजीव और वाक्पटुतापूर्ण हैं। वे पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी विशेष रूप से सहायक हुए हैं।

तुलसी का कला-पक्ष—तुलसीदासजी उन रस-सिद्ध कवियों में से थे जिनके भाव-पक्ष और कला-पक्ष पूर्णतया संतुलित हों। एक दूसरे की मर्यादा का ध्यान रखते हुए पारस्परिक उत्कर्ष-साधन में सहायक होते हैं। तुलसीदासजी न तो कबीर की भाँति मसि-कागद से अछूते थे और न केशव की भाँति भाषा में कविता करने में लज्जित होते थे। वे तो भाव के उपासक थे 'का भाषा का संस्कृत भाव चाहिए साँचु। काम जु आवै कामरी का लै करै

कमाँचु', किन्तु उनकी कामरी राग रंग में रँगी होने के कारण कमाँचु से भी अधिक मूल्यवान बन गयी थी। उसमें रीति, गुण, अलङ्कार, लक्षणा, व्यञ्जना सभी काव्यांग बिना प्रयास के ही यथास्थान आकर काव्य-सौष्ठव की वृद्धि करते हैं। भक्ति रस के प्रवाह में सभी गुण स्वतः बहे चले आये हैं। पहले माधुर्य गुण का उदाहरण लीजिए:—

माधुर्य—

विकसे सरसिज नाना रंगा। मधुर मुखर गुंजत बहु भृंगा॥
चातक कोकिल कीर चकोरा। कूजत विहँग नचत मन मोरा॥

* * * *

तन मृदु मंजुल मेचकताई। झलकत बाल विभूषन झाँई॥
अधर पानि पद लोहित लोने। सर सिंगार भव सारस सोने॥

ओज—इस गुण का सम्बन्ध रौद्र और वीर रस से है। इन रसों के आश्रय से कर्णकटु दोष भी गुण बन जाता है—

कतहुँ विटप भूधर उपारि पर सेन बरक्खत।
कतहुँ बाजि सो बाजि मर्दि गजराज करक्खत॥
चरन चोट चटकन चकोट अरि उर सिर बज्जत।
बिकट कटक बिद्दरत वीर वारिद जिम गज्जत॥

इन दोनों उदाहरणों में भाषा पूर्णतया भावानुसारिणी बन गयी है। शब्द स्वयं बोलते हुए प्रतीत होते हैं।

प्रसाद—प्रसाद गुण का अर्थ केवल इतना ही नहीं कि अर्थ जल्द समझ में आ जाय वरन् यह भी है कि जो सरल अर्थ-व्यक्ति के

कारण चित्त में एक साथ प्रसन्नता और प्रकाश उत्पन्न कर दें। यह गुण तुलसी की कविता में भरा पड़ा है। तुलसी की उपमाओं और उपेक्षाओं की सजीवता ने इस गुण को और भी निखार दिया है। कैकेयी द्वारा राम-बनवास का वर माँगा जाने पर दशरथजी की जो दशा हुई, उसका वर्णन देखिए—

गयउ सहमि कछु कहि नहिं आवा।
जनु सचान बन झपटेउ लावा॥
विवरण भयउ निपट महिपालू।
दामिन हनेउ मनहुँ तरु तालू॥

सचान (बाज) और दामिन एक साथ शीघ्रता, आकस्मिकता और सर्वनाश का चित्र उपस्थित कर देते हैं।

अलङ्कार—तुलसी ने अलङ्कारों का प्रयोग कोरे चमत्कार प्रदर्शन के लिए कम किया है जैसा कि ऊपर दिखाया गया है। उनके अलङ्कार अधिकतर भावों को स्पष्टता और तीव्रता देने के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इसीलिए उनमें समतामूलक अलङ्कारों का बाहुल्य है। उनकी उपमाएँ जैसे 'तिजरो को सो टोटका', 'गाड़ी के स्वान की नाईं', 'जैसे गाँठ पानी परे सन की' बड़ी सजीव और अनूठी हैं। विनय-पत्रिका में उन्होंने राम-नाम को 'अपनो सो घरु' कहा है। रावरो नाम साधु सुरतरु है, सुलभ सुखद अपनो सो घरु है' जो लोग अंग्रेजी के शब्द 'Sweet home' की मधुर व्यञ्जनाओं पर मुग्ध हों उन्हें ऐसे प्रयोगों की खोज में अंग्रेजी की शरण लेने की आवश्यकता नहीं है। 'राज डगरो सो'

में उनको Royal Road पर चलने का भी आनन्द मिल जायगा। तुलसी की उत्प्रेक्षाओं की सजीव चित्रमयता का उदाहरण ऊपर दे चुके हैं। तुलसी ने अपनी बात को पुष्ट करने के लिए बड़ी सुन्दर मालोपमाओं का भी प्रयोग किया है—

मालोपमा—कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिम दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहि राम॥
साङ्ग-रूपक—विषय वारि मन मीन भिन्न नहि होत कबहुँ पल एक।

*   *   *

कृपा डोरि बंसी पद अंकुस परम प्रेम मृदु चारो।
यह विधि वेधि हरहु मेरो दुख कौतुक राम तिहारो॥
सम—तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुञ्ज-हारी॥

१ २ ३
क्रम—सत्रु, मित्र, मध्यस्थ तीन ये, मन कीन्हे बरिआई।
१ २ ३ १ २ ३
त्यागन, गहन, उपेच्छनीय, अहि, हाटक, तृन की नाई॥
परिसंख्या—दंड जतिन कर भेद जहँ, नर्तक नृत्य समाज।
जितहु मनहिं अस सुनिय जहँ, रामचन्द्र के राज॥
प्रतीप—कुलिस, कुन्द, कुडमल, दामिनि दुति दसन देखि लजाई।
व्यतिरेक—सम सुवरन सुखमाकर सुखद न थोर।
सिय अंग कोमल, कनक कठोर॥

*   *   *

विष बारुनी बन्धु प्रिय जेही।
कहिय रमा सम किमि वैदेही॥

असङ्गति—हृदय तीर मेरे, पीर रघुबीरै।

उन्मीलित—चंपक हरवा अंग मिलि अधिक सुहाइ।
जान परे सिय हियरे, जब कुम्हिलाइ॥

भाषा और छन्द—तुलसी ने अपने समय की दोनों काव्य-भाषाओं को (रामचरितमानसमें पश्चिमी अवधी को और बरवै रामायण में पूर्वी अवधी को, तथा गीतावली, कवित्तावली और विनय-पत्रिका में व्रज-भाषा को) अपनाया था। किन्तु दोनों को उनके विशेष प्रतिनिधि-कवियों की अपेक्षा अधिक साहित्यिकता प्रदान की। जायसी की भाषा में चलती हुई पूर्वी का रूप मिलता है, तुलसी ने उसे साहित्यिकता प्रदान की। सूर की व्रजभाषा की सजीवता चाहे तुलसी में न हो किन्तु उन्होंने उसे भी अधिक साहित्यिक बनाया। विनय-पत्रिका की भाषा विशेष कर प्रारम्भिक भाग में बहुत संस्कृत-गर्भित होगयी है, यह देवताओं के गौरव के अनुकूल है, आत्म-निवेदन में वह काफ़ी सरल है।

तुलसी ने विषय के अनुकूल छन्द बदल कर अपने समय की सभी शैलियों को अपनाया है। प्रबन्ध-काव्य के लिए उन्होंने जायसी की दोहा-चौपाई शैली की प्रतिष्ठा बढ़ाई। नीति के लिए कबीर की और उनसे पूर्व से चली आती हुई दोहा शैली को अपनाया। सहज में याद रह न सकने के कारण नीति के लिए दोहे ही उपयुक्त ठहरते हैं। शृंगारिक और अलङ्कारिक भाव-

नाओं के लिए रहीम के बरवै छन्द को अपनाया गया। रामके यशगान के लिए भाटों की कवित्त, सवैया शैली को अलंकृत किया गया। युद्ध-वर्णन में वीर गाथा काल की छप्पय शैली को वे काम में लाये।

तुलसी ने तद्भव शब्दों का पर्याप्त रूप से प्रयोग किया है। सीधे प्राकृत के प्रयोग भी उनकी भाषा में देखने में आते हैं और कहीं-कहीं संस्कृत की विभक्तियाँ जैसे 'मनसि' भी दृष्टिगोचर होती है। तुलसी ने फ़ारसी, अरबी के शब्दों के (जैसे ग़रीबनिवाज़, गनी, दाद, मिसकीनता) प्रयोग में संकोच नहीं किया है। मिसकीनता में तो फ़ारसी में संस्कृत का प्रत्यय लगाकर एक प्रकार से वर्णसंकरी सृष्टि रची है।

तुलसी की भाषा में प्रसङ्गानुकूल शब्द-चयन का भी ध्यान रक्खा गया है। जहाँ 'डरपत मन मोरा' है वहाँ 'घन घमंड' कह कर उनके घोर-गर्जन का आभास दिया गया है और जहाँ मोरों के नाचने की बात है वहाँ वारिद जैसे कोमल शब्द का प्रयोग हुआ है। तुलसी की भाषा में मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग से, जैसे 'परसत पनवारो फारो', 'अंजन कहा आँख जिहि फूटे', 'दूध को जर्‌यो पिवत फूकि-फूकि मह्यो है, 'लाज आप ही निज जाँव उघारे,' 'ज्यों गज दसन', 'सावन के अंधहिं', पर्याप्त सजीवता आगई है। स्वयं तुलसीदासजी की उक्तियाँ, सूक्तियाँ और लोकोक्तियों के रूप में व्यवहृत होती हैं। जैसे 'होइहै वही जु राम रचि राखा', 'दैव-दैव आलसी पुकारा', 'कर्मप्रधान विश्व कर राखा' आदि।

आचार्य कवि केशवदास

परिचय—आचार्य केशवदास 'गुनाढ्य जाति सनाढ्य' कुलोद्भव शीघ्रबोध के कर्ता पंडित काशीनाथ के पुत्र थे। ये 'धरणीतल धन्य' ओड़छानगर के रहने वाले थे और नृपमणि मधुकरशाह के पुत्र दूलहराय के भाई इन्द्रजीत के आश्रित थे।

इनका जन्म संवत् १६१२ में और मृत्यु १६७४ में बतलाई जाती है। ये संस्कृत के अच्छे पंडित थे और आर्थिक चिन्ता न होने के कारण अध्ययन के लिए इनको समय भी यथेष्ट मिला होगा। संस्कृत का ज्ञान इनकी पैतृक संपत्ति थी, इनको इस बात का खेद था कि कुल की परम्परा के विरुद्ध इन्होंने हिन्दी में कविता की, देखिए:—

भाषा बोलि न जानही, जिनके कुल के दास।
तिन भाषा कविता करी, जड़मति केशवदास॥

इनको इन्द्रजीत की ओर से बाईस ग्रामों की जागीर थी अतः यह एक प्रकार के छोटे-मोटे राजा ही थे। देखिए:—

भूतल को इन्द्र इन्द्रजीत राजै युग-युग।
केशोदास जाके राज रजि सो करत है॥

इनकी राज्याश्रयता इन्द्रजीत के दरबार तक ही सीमित न थी। इन्द्रजीत का जुरमाना माफ़ कराने के लिए अकबर के दरबार में गये थे। वहाँ बीरबल की सिफ़ारिश से उन्होंने अपने आश्रयदाता का जुर्माना माफ़ कराया। इन्होंने बीरबल को

अपने कवित्व से मोहित कर लिया था और उनसे विपुल धन भी प्राप्त किया। केशवदासजी काफ़ी स्वाभिमानी थे (उन्होंने बीरबल से यही माँगा था कि उनके दरबार में उनको कोई न रोके और इन्द्रजीत से भी यही माँगा था कि उनकी कृपा एक सी बनी रहे) किन्तु इन्द्रजीत के प्रतिद्वन्द्वी और पराजित करने वाले महाराज वीरसिंह का यशगान करके (यद्यपि वीरसिंह जी का चरित प्रशंसनीय भी था) केशव ने अपनी स्वामिभक्ति के गौरव के विरुद्ध कार्य किया।

केशव के ग्रन्थ—(१) रसिक-प्रिया (संवत् १६४८) इसमें रस-निरूपण विशेष कर शृङ्गार रस और नायिका भेद है। (२) रामचन्द्रिका (कार्तिक सुदी १६५२)। (३) कवि-प्रिया (फागुन सुदी पंचमी संवत् १६५२) इसमें कवि के वर्ण्य विषयों तथा अलङ्कारों का वर्णन है। यह एक प्रकार से कवि-शिक्षा का ग्रन्थ है। (४) विज्ञान-गीता (यह ग्रन्थ प्रबोधचन्द्रोदय नाटक की रीति पर लिखा गया है) इनके दो ग्रन्थ और हैं—जहाँगीर-यश-चन्द्रिका और वीरसिंहदेव-चरित्र।

केशव का दृष्टिकोण—हिन्दी साहित्य में जिन कवियों के ऊपर आलोचकों के अंकुश का नियत प्रहार होता रहता है उनमें से केशव भी एक प्रसिद्ध व्यक्ति हैं। इसमें संदेह नहीं कि अनेक आलोचकों ने आपके नाना छन्द-विधान, सफल-संवाद, अपूर्व अलंकारिक चमत्कार तथा ओज गुण आदि की प्रशंसा की है किन्तु अधिकतर लोग इनके कवित्व को सुपाच्य नहीं समझते रहे हैं। किसी ने इनको 'कठिन काव्य का प्रेत' कहा है तो किसी ने

हृदयहीन'; किसी ने इनके काव्य को 'छन्दों का अजायबघर' कहा है तो किसी ने 'कवि को दैन न चहै बिदाई, पूछै केशव की कविताई' कह कर अपनी सम्मति प्रकट की है। इस सम्बन्ध में यह समझ लेना आवश्यक है कि ये सभी आलोचनाएँ कवि के दृष्टिकोण को न समझ सकने के कारण हुई हैं; अस्तु सर्वप्रथम हम इसी पर विचार करते हैं।

यह हमारा सौभाग्य ही है कि केशव ने स्वयं अपने और अपनी कविता के विषय में अपने ग्रन्थों के आरम्भ में थोड़ा-बहुत कह-सुन दिया है। केशव के जीवन-वृत्त से प्रकट होता है कि वे एक परम संस्कृत कुटुम्ब की संतान थे और उनको अपनी कुलीनता पर बड़ा अभिमान था। वे भाषा में कविता करने को अपनी हीनता समझते थे; फलस्वरूप उन्होंने स्वयं भी इस बात का प्रयत्न किया है कि उनकी कविता में उनका संस्कृत का ज्ञान छिपा न रहे और वे अपनी कुल की प्रतिष्ठा को यथापूर्व बनाये रक्खें। संस्कृत का एक पण्डित यदि केशव काव्य का अध्ययन करे तो उसे ज्ञात होगा कि उनकी रचनाओं में पग-पग पर कादंबरी, हर्षचरित, रघुवंश, माघ, नैषध, रामायण आदि काव्यों की छाया ही नहीं वरन् उसको यत्र-तत्र उनको सौष्ठव-वृद्धि करने वाले स्थल भी मिलेंगे।

दूसरी विशेषता है—कवि की परिस्थितियों से उत्पन्न एक आत्माभिमान। केशव ने 'प्राकृत-जन-गुन-गाना' तो किया ही है, साथ ही उनकी कविता में अपने कुटुम्ब आदि का सगर्व उल्लेख भी

मिलेगा । वे न तो 'माता-पिता जग जाहि तज्यौ, विधिहू न लिखी कछु भाल भलाई' वाले लोगों में से थे और न उनको सूर की भाँति 'नैननहू की हानि' जैसी शिकायत थी। पाण्डित्य-प्रदर्शन और अलङ्कार-प्रियता उनके लिए स्वाभाविक ही थी। वे तो एक ऐसे कवि थे जिनके लिए 'राज सो करतु' सार्थक होता था। उनका झुकाव कोमलता की ओर न होकर प्रचण्डता की ओर था, दीनता की ओर न होकर अभिमान की ओर था, भावुकता की ओर न हो कर पाण्डित्य की ओर था। उनका तो आदर्श वाक्य था—'भूपन बिन न राजई कविता वनिता, मित्र।' कविता की दुरूहता का एक कारण यह चमत्कार-प्रियता भी है।

केशव के समय तक संस्कृत में साहित्य-शास्त्र का पूर्ण विकास हो चुका था। विद्वानों के अनेक सम्प्रदाय उठ खड़े हुए थे : अलंकार-सम्प्रदाय, वक्रोक्ति-सम्प्रदाय, ध्वनि-सम्प्रदाय, रस-सम्प्रदाय इत्यादि सभी ने अनेक तर्कों के उपरांत यह निश्चय कर लिया था कि काव्य में सारभूत अंतरंग वस्तु रस है और अलंकार, रीति और ध्वनि अपनी शक्ति के अनुसार उसके सहायक हैं, विरोधी नहीं; तथा इन सभी वस्तुओं की काव्य में आवश्यकता होती है। पीछे के लोग कवि-शिक्षा के ऊपर भी लिखने लगे। केशव ने अपनी विशेष परिस्थिति के कारण अलङ्कार सम्प्रदाय को महत्व दिया है किन्तु उन्होंने रस-सम्प्रदाय की भी उपेक्षा नहीं की। उन्होंने अपनी रसिक-प्रिया में रसों का स्वरूपानुरूप वर्णन किया है और सब रसों को शृङ्गार के अन्तर्गत

रखने का प्रयत्न किया है यद्यपि उसमें उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली है।

केशव ने 'अलंकार' शब्द का प्रयोग एक विलक्षण और विस्तृत अर्थ में किया है। वे 'अलंकार' के तीन भेद करते हैं—वर्णालंकार, वर्ण्यालंकार तथा विशेषालंकार। वर्णन के सम्पूर्ण विषयों को दो भागों में बाँटा गया है। एक तो काव्य के भिन्न-भिन्न रंग और दूसरे शेष वर्णनीय विषय, प्रथम को वर्णालङ्कार तथा दूसरे को वर्ण्यालङ्कार कहा गया है। शास्त्रीय शब्द अलङ्कार के लिए उन्होंने 'विशेषालंकार' शब्द का प्रयोग किया है।

विशेषालङ्कारों या काव्यालङ्कारों के विषय में केशव दंडी और रुय्यक का अनुकरण करते हैं। रस को अलंकारों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी, वह स्वयं "रसवत्" अलङ्कार बन गया। केशव ने उपमा के २२ भेद किये हैं और शेष के १३। कई अलङ्कार—जैसे प्रेमालङ्कार तथा ऊर्जालङ्कार तो केवल संख्या बढ़ाने वाले ही हैं।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं "रसिक-प्रिया" में भी सूक्ष्म-भेद-विधान की प्रवृत्ति है। रस, नायिकाभेद, वृत्ति आदि का परम्परायुक्त वर्णन है। पद्मिनी, चित्रिणी आदि स्त्रियों के अनावश्यक भेद किये गये हैं।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि केशव के ग्रन्थों में अलङ्कारों का बहुत शक्तिमान् प्रयत्न निहित है। कुछ विद्वानों ने केशव को रीतिकाल का प्रवर्त्तक न मान कर भक्ति-काल के

फुटकर कवियों में स्थान दिया है किन्तु हम उनसे सहमत नहीं। यद्यपि यह सत्य है कि रीति-काल की सम्बद्ध धारा केशव से कुछ वर्ष उपरांत एक भिन्न आदर्श को लेकर चली और यह भी सत्य है कि केशव से पहले भी साहित्य-शास्त्र के ऊपर लेखनी उठाने वाले कई कवि पाये जाते हैं, फिर भी जैसे कि हम ऊपर कह आये हैं, अन्य पूर्ववर्ती हिन्दी आचार्यों की अपेक्षा केशव का प्रयत्न गम्भीर तथा विस्तृत है। जहाँ तक आदर्शों का सम्बन्ध है केशव अनेक कवियों से भिन्न अवश्य हैं। यह साम्प्रदायिक भेद-मात्र है; इससे उनके स्थान पर कोई आँच नहीं आती। आचार्य के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह रस-सम्प्रदाय को ही माने। केशव की रसिक-प्रिया को देख कर कोई यह भी नहीं कह सकता कि वे रस-सम्प्रदाय के विरोधी हैं। रीति-काल की मूल प्रवृत्ति लक्षण-ग्रन्थों को लिखने और लक्षणों के अनुकूल उदाहरण उपस्थित करने में थी। इस प्रवृत्ति का पूर्ण परिपाक केशव में मिलता है। वस्तुतः केशव को ही रीतिकाल का प्रवर्त्तक मानना चाहिए।

भक्ति-भावना—जहाँ सूर और तुलसी के लिए कविता साधन-मात्र थी और हरि-भक्ति के प्रचार का सफल माध्यम होने के कारण अपनाया गया था वहां केशव के लिए कवित्व ही चरम साध्य था। भक्ति उनकी कविता में चाहे थोड़ी पवित्रता प्रदान कर दे किन्तु वह साध्य न थी। केशव को अपनी कला पर गर्व था। वे तुलसी की भाँति अपनी रचना को इस लिए गौरव नहीं

देते कि 'इहि में रघुपति नाम उदारा' वरन् वे उसमें छन्दों के बाहुल्य को प्रधानता देते हैं। 'रामचन्द्र की चन्द्रिका वर्णति हैं, बहु छन्द'। केशव ने रामचन्द्रिका लिखने में महर्षि वाल्मीकि से प्रेरणा ग्रहण की थी। वाल्मीकि ने ही तो उन्हें स्वप्न में रामचन्द्रिका लिखने का परामर्श दिया था।

यद्यपि केशव के राम परम ब्रह्म और अवतारी अवतारमणि हैं तथापि वे वाल्मीकि के अनुकूल आदर्श पुरुष अधिक हैं। केशव ने उनका नारायणत्व और ब्रह्मत्व अनेक स्थानों पर मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है (जैसे परशुराम से भेंट होने के प्रसङ्ग में—जगगुरू जान्यों) किन्तु वह तुलसी की भाँति उसके प्रचारक न थे। यद्यपि केशवदासजी प्राकृतजन के गुणगान के लिए सरस्वती देवी को कष्ट देने में संकोच न करते थे फिर भी रघुनाथजी की भक्ति उनके अन्तस्तल में निवास करती थी। अग्निपरीक्षा के समय जगज्जननी सीताजी की अपनी भक्ति से तुलना करते हुए वे लिखते हैं :—

है मणि-दर्पण में प्रतिबिंब कि प्रीति हिये अनुरक्त अभीता।
पुञ्ज प्रताप में कीरति सी तप तेजन में मनु सिद्धि बिनीता॥
ज्यों रघुनाथ तिहारिय भक्ति लसै उर केशव के शुभ गीता।
त्यों अवलोकिय आनँदकंद हुतासन मध्य सबासिन सीता॥

केशव को इस दृश्य से मार्मिक वेदना हुई मालूम पड़ती है। रसिक-प्रिया में भी कृष्ण के शृङ्गार-वर्णन में स्मृति रूप से इस दृश्य का उल्लेख हुआ है।

भाषा—केशव की भाषा व्रज-भाषा है जो शुद्ध साहित्यिक है और जिसमें स्थान-स्थान पर बुन्देलखंडी आदि के शब्द भी पाये जाते हैं। 'साहित्यिक' शब्द के कहने से हमारा तात्पर्य यह है कि उसमें जो सौन्दर्य है वह न तो सूर की भाषा के समान व्रजभाषा के स्वाभाविक स्वरूप का है और न बिहारी की भाषा के समान माधुर्य का। पाण्डित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति के कारण केशव की भाषा संस्कृतबहुला होगयी है; उसमें ऐसे संस्कृत शब्द देखने में आते हैं जिन्हें संस्कृत का पंडित ही समझ सके। सूर्य के अर्थ में 'मित्र' शब्द, अग्नि के अर्थ में 'हुताशन' शब्द, मघवा (इन्द्र), शिवा (गीदड़ी), सरोजासना (लक्ष्मी) विष (जल) शब्दों का प्रयोग हिन्दी वालों को अभीष्ट नहीं है। इसी प्रकार बुंदेलखंडी शब्द गौरमदायन भी प्रान्तीय होने के कारण दुरूह है।

'धनु है यह गौर मदायन नाहीं'

केशव की भाषा प्रायः व्याकरण की दृष्टि से भी शुद्ध है। कहीं-कहीं च्युत-संस्कृति दोष है भी जो तुकांत आदि के निमित्त ही ज्ञात होता है। लिंग-दोष का और क्या कारण होगा :—

'पीछे मघवा मोहि शाप दई'

'शाप' शब्द पुलिंग है इस हेतु 'दई' के स्थान पर 'दयो' होना चाहिये। इसी भाँति:—

'अंगद रक्षा रघुपति कीन्हो'

में 'कीन्हो' के स्थान पर 'कीन्ही' होना चाहिए।

अलङ्कार—केशवदास अलंकारवादी थे और उन्होंने 'कवि-

प्रिया' में स्पष्ट कह दिया कि—

'भूषन बिनु न राजई कविता-वनिता-मित्र'

अतः यह स्वाभाविक ही था कि वह चमत्कार का साधन बाह्य अलङ्कारों को ही बनाते। अलङ्कार कोई बुरी वस्तु नहीं होती किन्तु वह अनुचित प्रयोग से स्वाभाविक सौन्दर्य को भी छिपा सकती है। अत्यधिक अलङ्कार भी कभी-कभी शरीर पर भार-स्वरूप जान पड़ते हैं।

अपने पाण्डित्य के कारण केशव ने श्लेष का बड़ा सुन्दर तथा सफल प्रयोग किया है किन्तु कहीं-कहीं यह प्रवृत्ति केवल इतने ऊपरी शब्द-साम्य का आधार लेकर उपमाओं पर टिकी रहती है कि भाव को निर्जीव कर देती है। 'धाय' वृक्ष का भी नाम है और उपमाता को भी कहते हैं, केशव ने प्रवर्षण-गिरि का वर्णन करते हुए इस शब्द का प्रयोग इस प्रकार किया है:—

'सिसु सो लसै संग धाय'

पहाड़ की शोभा उसकी महत्ता में है, शिशुता में नहीं। इसी प्रकार 'शिवा' के दो अर्थ हैं—पार्वती और गीदड़ी, इन दोनों का एक साथ ध्यान में आना कितना हास्यास्पद हो जाता है। उसी पर्वत के सम्बन्ध में केशव कहते हैं:—

'संग सिवा विराजै, गजमुख गाजै,
परभृत बोलै, चित्त हरै।'

परिसंख्या अलङ्कारमें केशव का यह पांडित्य खूब निखर आया है। 'विधवा बनी न नारि' में 'विधवा' शब्द का श्लेष भी

बुरा नहीं है, किन्तु निम्नलिखित छन्द तो अद्वितीय है:—

'मूलन ही की जहाँ अधोगति केशव गाइय।
होम हुतासन धूम नगर एकै मलिनाइय॥'

नीचे के उदाहरण में 'विरोधाभास' का शाब्दिक चमत्कार यदि दुरूह न हो (विष का अर्थ जल जान लेने से यह दुरूहता दूर हो जाती है) तो परम रमणीय मालूम पड़ता है:—

'विषमय यह गोदावरी अमृत को फल देत'

किन्तु अलङ्कार का चमत्कार दिखाने के लिए भी श्री रामचन्द्रजी को परदार-प्रिय कहने में पाप लगता है:—

'परदार-प्रिय साधु मन वच काय के'

परदार शब्द लक्ष्मी और पृथ्वी तथा दूसरी स्त्री को भी कहते हैं। विरोधाभास दूसरे की स्त्री अर्थ लगाने में ही ठीक बैठता है। 'संदेह' अलङ्कार की कल्पना में केशव कहीं-कहीं बहक भी जाते हैं:—

'अरुण गात अति प्रात पद्मिनी-प्राणनाथ भय।
मानहु केशवदास कोकनद कोक प्रेम मय॥
परिपूरण सिंदूरपूर कैंध्यौं मंगल घट।
किधौं शक्र को छत्र मढ्यौ माणिक-मयूख पट॥'

तक तो अत्यन्त शुभ और मंगलमय वर्णन है, किन्तु—

"के शोणित कलित कपाल यह
किल कापालिक काल को।"

के कहते ही जुगुप्सा उत्पन्न हो जाती है। (विशेषकर मङ्गल अवसर पर)। इसके पश्चात्—

यह ललिल लाल कैधो लसत
दिगभामिनि के भाल को।

को जोड़कर कवि ने फिर बिगड़ी बात बनाली है। दोनों पंक्तियों को एक साथ पढ़ने से ऐसा ज्ञात होता है मानो टूटे इक्के पर बैठ कर सड़क का एक दच्चा पार किया हो।

उपमानों की खोज में भी केशव ने कोई-कोई भूल की है। रामचन्द्र को उलूक के समान गुण वाला कहना—

बासर की सम्पदा उलूक ज्यौं न चितवत।

यद्यपि शुद्ध साहित्यिक को ग्राह्य हो जायगा तथापि भक्तों को अवश्य खटकेगा। इसी भाँति—

पांडव की प्रतिमा सम लेखौ।
अर्जुन भीम महामति देखौ॥

में शब्द साम्य की विडम्बना लाला भगवानदीन जैसे केशव के भक्तों को भी खटकती है। रामचन्द्रजी के मुख से पाण्डवों का उल्लेख कराना काल-विरुद्ध दूषण है। (यह दोष रामचन्द्रजी को त्रिकालज्ञ मान लेने से भी बना रहता है क्योंकि वे नरलीला कर रहे थे) अस्तु, कुछ उपमाएँ अपूर्व बन पड़ी हैं—

लीक सी लिखत नभ पाहन के अङ्क सो।

में तेज गति की उपमा वास्तव में अद्वितीय है।

केशव के रूपक बड़े ही चमत्कारपूर्ण हैं—

शोक की आग लगी परिपूरण
आइ गये घनश्याम बिहाने।

जानकि के जनकादिक के सब
फूलि उठे तरु पुण्य पुराने ॥

इसमें घनश्याम पर श्लेष भी अति सुन्दर और सार्थक है।

'अपन्हुति' भी समयानुकूल है—

भट, चातक दादुर मोर न बोले।
चपला चमकै न, फिरे खँग खोले ॥
दुतिवन्तन कों विपदा बहु कीन्हीं।
धरनीं कहँ चन्द्रवधू धरि दीन्ही ॥

अन्तिम दो पंक्तियों में द्युतिवन्तों की दुर्गति से अपनी ओर और चन्द्रवधू द्वारा सीता की ओर इशारा किया है।

इस प्रकार आरम्भ से अन्त तक यद्यपि केशव में चमत्कार ही चमत्कार है (अतः अलंकार कहीं-कहीं भद्दे भी लगने लगते हैं) किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उनका अलंकारों पर असाधारण अधिकार नहीं है। परिसंख्या आदि के उदाहरण तो इनके समान कोई लिख ही न सका। कहीं-कहीं बड़े सुन्दर तुलनात्मक विरोध भी बड़े स्वाभाविक रूप से आये हैं—

सिन्धु तर्‍यो उनको बनरा तुमपै धनु रेख गई न तरी।
बाँदर बाँधत सो न बँध्यो, उन बारिधि बाँधि के बाट करी॥

शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों की पूर्ण भरमार इनके आचार्यत्व की परिचायिका है। (विशेष ज्ञान के लिए देखिए 'साहित्य सन्देश' जुलाई १९४५ में हमारा निबन्ध 'केशव की अलंकार-योजना')।

संवाद—जिन समालोचकों ने केशव की कविता में केवल दोष ही दोष देखे हैं उनको भी यह स्वीकार करना पड़ा है कि केशव के से संवाद हिन्दी का कोई भी दूसरा कवि नहीं लिख सका है। उनके संवादों में कई अपने गुण हैं। एक तो यह है कि कवि ने अपने संवादों में पात्र-निर्देश को काव्य का अङ्ग नहीं बनाया, प्रत्युत बाहर से पात्रों के नाम लिख दिये गये हैं। कहीं-कहीं तो एक ही छन्द में तीन पात्र आ गये हैं। यह बात कुछ खटकती है क्योंकि पात्र-परिवर्तन व्यर्थ का एक विघ्न है।

दूसरी विशेषता है—पात्रोचित शिष्टाचार का निर्वाह पूर्णता से हुआ है। परशुराम-संवाद तथा रावण-संवाद दोनों ही स्थानों पर केशव ने इस बात का ध्यान रखा है किन्तु तुलसी इसे भूल से गये हैं। महाराज जनक और विश्वामित्र के वार्तालाप में शिष्टाचार की मर्यादा अपनी चरम सीमा को पहुँची हुई दिखाई देती है।

इन संवादों की तीसरी विशेषता है—प्रत्युत्पन्नमतित्व तथा व्यंग्य की प्रवृत्ति। यह भी केशव ने राजसभा से ही सीखी होगी। परशुराम-संवाद में परशुराम का विश्वामित्र से वार्तालाप देखिए—

यह कौन को दल देखिये।
यह राम को प्रभु लेखिये॥
कहि कौन राम? न जानियो।
सर ताड़ुका जिन मारियो॥

इत्यादि में कितने संयत वाक्यों का प्रयोग है किन्तु थोड़े ही शब्दों में रामचन्द्रजी की महत्ता का उल्लेख हो गया है। लव-कुश का रामचन्द्र के वीरों के साथ जो वार्तालाप हुआ है वह परम रमणीय, विदग्धतापूर्ण तथा मनोरञ्जक है।

प्रकृति-चित्रण—केशव ने प्रकृति का संश्लिष्ट चित्र नहीं खींचा, वह केवल अधिकतर स्थानों में गिनती गिनने तक ही रह गये हैं। साधारण वर्णनों का आधिक्य होने से प्रकृति-चित्रों का भी आधिक्य हो गया है किन्तु उसमें केशव की वृत्ति रमती हुई नहीं जान पड़ती।

केशवदासजी ने प्रकृति के वर्णन में देश-विरुद्ध दूषण भी काफ़ी किये हैं। विश्वामित्र के तपोवन के वर्णन में एला, लवंग और पुङ्गीफल का वर्णन किया है जो बिहार में नहीं होते।

एला ललित लवंग संग पुङ्गीफल।

इसी प्रकार हनूमान्जी का सीताजी से रामचन्द्रजी का विरह-वर्णन करते हुए यह बतलाना कि वे केशर की क्यारियों से ऐसे ही डरते हैं जैसे केशरी (सिंह) से हाथी। इस श्लेष के मोह से काश्मीर की वस्तु वह दक्षिण के जंगलों में ले आये। देखिए—

केसरी को देखि बन करी ज्यों कँपत है।

दण्डकारण्य के वर्णन में भी वे अपनी नृप-सेवा को न भूल सके—

सेब बड़े नृप की जनु लसैं। श्रीफल भूरि भयो जहँ बसैं॥

श्रीफल का वन के सम्बन्ध में बेल का अर्थ है और नृप के सम्बन्ध में इसका अर्थ धन-वैभव है। केशवदासजी को सेब और बेर के नाम से अवश्य प्रेम था। नीचे के छन्द में वह अर्क (धतूरे) और अर्क (सूर्य) के साम्य के आधार पर प्रलय-काल की भयानक बेला (समय—जबकि बारहों सूर्य का उदय होता है) उपस्थित कर देते हैं—

बेर भयानक सी अति लगै। अर्क समूह जहाँ जगमगै॥

इस सम्बन्ध में बिहारी ने अपनी सुरुचि का अच्छा परिचय दिया है। देखिए—

गुनी गुनी सब कोउ कहत, निगुनी गुनी न होत।
सुन्यो कहूँ तरु अर्क ते, अर्क समान उदोत॥

केशव का हृदयपक्ष—केशवदासजी के लिए कुछ आलोचकों का कहना है कि उनमें रस की खोज करना ऐसा ही निरर्थक है जैसा कि मरुभूमि में जल का। किन्तु मरुभूमि में भी 'ओसिस' नाम के जल-पूर्ण स्थल मिलते हैं फिर तो केशव कवि थे। यद्यपि केशव की रामचन्द्रिका में सभी रस मिलते हैं फिर भी उनको शृङ्गार और वीर रस में अधिक सफलता मिली है। रसिक-प्रिया में भी शृङ्गार के वर्णन में ही अधिक सफल हुए हैं।

राम-सीता के मर्यादापूर्ण जीवन में रसिकता के लिए कम गुञ्जाइश है, फिर भी दो एक स्थलों में केशव ने अपनी रसिकता का परिचय दे ही दिया है। वन-गमन-समय के दो वर्णन देखिए:—

'मग को श्रम श्रीपति दूरि करैं,
सिय को, शुभ बाकल अँचल सों।
श्रम तेउ हरैं तिनको कहि केशव,
चंचल चारु दृगंचल सों॥

नीचे के वर्णन में यद्यपि तुलसीदासजी की मर्यादा परक भाव-सुकुमारता नहीं है (क्योंकि तुलसीदासजी की सीता रामचन्द्र पद अङ्कों को बचा कर चलती हैं) तथापि शृङ्गार की दृष्टि से यह सूक्ति काफ़ी सरस है, देखिए:—

'मारग की रज तापित है अति, केशव सीतहि सीतल लागति।
ज्यौं पद-पंकज ऊपर पायनि, दै जु चले तेहि ते सुख दायनि॥'

केशवदासजी ने सीता और राम के वियोग का अच्छा वर्णन किया है किन्तु वह परम्परा-भुक्त हो गया है। सीताजी की निम्नोल्लिखित उक्ति उनके हृदय की वेदनामयी चिन्ता का परिचय देती है:—

श्री पुर में, बन मध्य हौं, तू मग करी अनीति।
कहि मुदरी अब तियनि की को करिहै परतीति॥

श्री (लक्ष्मीजी) ने तो उनको नगर में त्याग दिया, मैंने वन में त्याग दिया और तूने उन्हें रास्ते में त्याग दिया। हे मुद्रिके, अब स्त्रियों का कौन विश्वास करेगा? इसमें राम के अकेलेपन की व्यञ्जना है।

लवकुश की वीरता सम्बन्धी कुछ गर्वोक्तियाँ बड़ी मार्मिक हैं:—

कछु बात बड़ी न कहौं मुख थोरे,
लव सों न जुरो लवणासुर भोरे ॥
द्विज-दोषन ही बल ताहि सँहार्‌यो।
मरही जु रहो सु कहा तुम मार्‌यो ॥

यद्यपि केशव के लिए यह कहा जाता है कि वे करुणा के दृश्यों के वर्णन में अधिक सफल नहीं हुए तथापि वास्तव में बात ऐसी नहीं है। उन्होंने करुणा के स्थलों को अधिक विस्तार नहीं दिया है किन्तु जहाँ करुणा का वर्णन किया है वहाँ वह बड़ा मार्मिक है। वात्सल्य-सम्बन्धी करुणा का निम्नोल्लिखित दृश्य बड़ा हृदयस्पर्शी है—विश्वामित्र जब रामचन्द्रजी को अपने साथ ले जाते हैं उस समय का वर्णन केशव की सहृदयता का परिचायक है। देखिए:—

'राम चलत नृप के युग लोचन।
वारि भरित भये वारिद रोचन ॥
पायन परि ऋषि के सजि मौनहिं।
केशव उठि गये भीतर भौनहिं ॥'

दशरथ की मौन ही उनके हृदयगत भावों का वाचाल रूप से द्योतन कर रही थी। केशव ने उस समय भी शिष्टाचार का ध्यान रक्खा है।

लक्ष्मणजी के शक्ति लगते समय भी केशव ने अपने सूक्ष्म निरीक्षण और वर्णन-कौशल का परिचय दिया है :—

बालक लक्ष्मण मोहि विलोको। मोकहँ प्राण चले तजि, रोको ॥

हों सुमरौं गुण केतिक तेरे। सोदर पुत्र सहायक मेरे॥
मोहिं रही इतनी मन शंका। दैन न पाई विभीषण लंका॥
बोलि उठो प्रभु को पन पारौ। नातरु होत है मो मुख कारौ॥'

इस विलाप में बड़ी मार्मिक वेदना है। पुत्र शब्द में रामचन्द्र-जी ने अपना सारा स्नेह भर दिया है। सहायक कह कर अपनी हीन अवस्था की ओर संकेत किया है और यह बतलाया है कि लक्ष्मण के बिना वे अपने प्रण (विभीषण को लंका देने का) पालन न कर सकेंगे। रामचन्द्रजी ने तीन सम्बन्ध तो अपनी ओर बतलाये और चौथा सम्बन्ध प्रभु का कहा जिसे स्वयं लक्ष्मण मानते थे। उसी नाते वे लक्ष्मणजी से 'अपील' करते हैं कि कम से कम अपने 'प्रभु' के इस प्रणपालन में तो सहायता करो। प्रभु शब्द में सारी करुणा उड़ेल दी गई है।

प्रबन्ध-निर्वाह—रामचन्द्रिका यद्यपि एक प्रबन्ध-काव्य के रूप में लिखा गया है फिर भी उसमें मुक्तक की स्फुटता विद्यमान है। कथा के तारतम्य की अपेक्षा अलंकरण एवं पांडित्य-प्रदर्शन की ओर रुचि अधिक है, कथाओं में न तारतम्य है न अनुपात। राम-वनवास की सारी बात कितने संक्षेप में चलती की है—

'यह बात भरत्थ की मातु सुनी।
पठऊँ वन रामहिं बुद्धि गुनी।
तेहि मंदिर सों नृप सों विनयो।
वर देहु हुतो हमको जु दयो।

नृप बात कही हँसि हेरि हियो।
बर माँगि सुलोचनि मैं जु दियो।'

मंथरा को इस दृश्य से बाहर रखने के कारण सारा उत्तरदायित्व कैकेयी पर ही आ जाता है। अस्तु।

वनगमन-समय रामचन्द्रजी द्वारा माता कौशल्या को वैधव्य धर्म का उपदेश दिलाना अप्रासंगिक-सा हो जाता है। घटना के पूर्व ही ऐसी अशुभ कल्पना उपदेश देने का उतावलापन ही कहा जा सकता है। श्री रामचन्द्रजी को भविष्य का ज्ञान चाहे हो किन्तु अवसर के पूर्व एक ऐसी अशुभ बात की ओर संकेत अनुचित था, विशेष कर पुत्र के मुख से। पहले तो कौशल्या जैसी सती साध्वी के लिए यह व्यर्थ सा था किन्तु यदि उपदेश की आवश्यकता ही थी तो उसके अधिकारी गुरू वशिष्ठजी थे और वह भी मृत्यु के पश्चात् ही; किन्तु केशव ने मृत्यु के पश्चात् तो किसी से दो शब्द भी नहीं कहलाये।

ब्रह्म रंध्र फोरि जीव यों मिल्यो जुलोक जाय।
गेह तूरि ज्यों चकोर चन्द्र में मिलै उड़ाय॥
(जुलोक=द्युलोक=सुरलोक। गेह=पिंजड़ा)

इसके आगे ही रामचन्द्रजी की वनगमन की शोभा का वर्णन होने लगता है। एक प्रसंग से दूसरे प्रसंग तक जाने में कुछ तारतम्य चाहिए इसका केशव में नितान्त अभाव है। केशव को प्रसंग-निर्वाह की अपेक्षा सूक्तियों की अधिक चिन्ता रहती है, उसमें वे कहने वाले की पात्रता का भी ध्यान नहीं रखते।

ग्रामीण स्त्रियों द्वारा सीताजी के मुख की चन्द्रमा से जो श्लेष-प्रधान तुलना करायी है वह केशव जैसे पंडितों के ही योग्य है, भोली-भाली स्त्रियों के योग्य नहीं। (इस सम्बन्ध में केशवदासजी की कमज़ोरी का पहले ही उल्लेख कर चुके हैं।

'वासों मृग अङ्क कहैं तो सों मृगनैनी सब,
वह सुधाधर तुहूँ सुधाधर मानिये।
वह द्विजराज, तेरे द्विजराजि राजैं,
वह कलानिधि तुहूँ कलाकलित बखानिये ॥'

मृग अङ्क = मृग है गोद में जिसके, चन्द्रमा का पर्याय है। चन्द्रमा के पक्ष में सुधाधर सुधा को धारण करने वाला अर्थ लगेगा, 'सुधा है, जिसके अधर में' यह अर्थ सीता के पक्ष में लगेगा। द्विजराज-चन्द्रमा को द्विजराज कहते हैं क्योंकि उसका दो बार जन्म हुआ था। सीता के पक्ष में—द्विजराजि = दाँतों की पंक्ति। द्विज दाँत को भी कहते हैं क्योंकि उनका दो बार जन्म होता है। चन्द्रमा कलानिधि है और सीता कलाविद् हैं।)

केशवदासजी भरतजी के चित्रकूट-गमन के प्रसङ्ग में गुह का वर्णन करते हैं: 'तरि गंग गये गुह संग लिए' किन्तु इसका वर्णन कहीं नहीं आता।

उत्तरार्द्ध की कथा में विशेषकर अश्वमेध यज्ञ तथा लवकुश के साथ युद्ध के वर्णन में प्रवन्ध-निर्वाह अच्छा हुआ है। उत्तरार्द्ध में भी कहीं-कहीं वर्णन में उन्होंने मर्यादा का ध्यान नहीं रक्खा है। दासियों के नखशिख के वर्णन में चाहे सीताजी की

अलौकिक सुन्दरता की क्षीण व्यञ्जना हो किन्तु वह वर्णन रामचन्द्रजी की मर्यादा के विरुद्ध है। केशवदासजी ने हमको सूक्तियों के बिखरे हुए मोती ही अधिक दिये, उनमें तारतम्य सूत्र का अपेक्षाकृत अभाव सा ही मिलता है।

चरित्र-चित्रण—केशवदासजी का चरित्र-चित्रण इतना सदोष नहीं है जितना उनका प्रबन्ध-निर्वाह। रामचन्द्रजी के शील और उनकी धर्म-परायणता का हमको शुरू से ही परिचय मिल जाता है। ताड़कावध के समय उन्होंने विश्वामित्र से पर्याप्त तर्क किया है। केशव के राम इस अपराध से मुक्त रहते हैं। रावण-वाणासुर-वार्तालाप प्रबन्ध की दृष्टि से निरर्थक हो किन्तु उसमें रावण के चरित्र पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। केशव के चरित्र-चित्रण का कौशल उस समय मालूम होता है जब कि लक्ष्मणजी की मूर्च्छा छूटने पर वे उनसे पहली बात यही कहलाते हैं—'लंकेश न जीवत जाय घरै।

केशवदासजी को यदि साहित्य के उडगनों में स्थान दिया गया है तो वह साधारण नहीं है, वरन् शुक्र की भांति परम उज्ज्वल और प्रभापूर्ण है।

प्रेम-पीड़ा की प्रतिमूर्त्ति मीरांबाई

जन्म—जोधपुर राज्य के संस्थापक राव जोधाजी के पुत्र राव दूदाजी ने अपने पराक्रम से मेड़ते का राज्य स्थापित किया था। इन दूदाजी के चौथे पुत्र रत्नसिंह को मेड़ता की ओर से जो १२ गाँव निर्वाहार्थ मिले हुए थे, उन्हीं में से एक 'कुड़की' (कुछ का मत है कि गाँव का नाम 'चौकड़ी' है), नामक गाँव में मीरां का जन्म हुआ। मीरां ने स्वयं लिखा है 'मेड़तिया घर जनम लियो है मीरां नाम कहायो।'

मीरां का जन्म-संवत् कौन था इस संबन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। मीरां के अपने पदों में तो किसी भी संवत् का उल्लेख है नहीं। ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर और जनश्रुति से मीरां का जन्म १५५५ संवत् में विशेष मान्य ठहरता है। बाल्यावस्था में ही मीरां की माँ की मृत्यु हो गयी थी। इन्हें बचपन से ही कृष्ण में भक्ति हो गयी थी। इनके पितामह परम वैष्णव थे। उनका प्रभाव तो इन पर पड़ना ही चाहिए। किसी साधु से इन्होंने कृष्ण की एक प्रतिमा बाल्यकाल में ही मचल कर ले ली थी, और उसे ये अपनी ससुराल भी ले गयी थीं।

विवाह—राव दूदा की मृत्यु के उपरान्त उनके बड़े लड़के वीरमदेव ने राज्य-भार सँभाला। इन्होंने मीरां का विवाह १८

वर्ष की अवस्था में कर दिया था। यह संवत् १५७३ के लगभग हुआ। कर्नल टाड के 'राजस्थान' के अनुसार मीरां का विवाह मेवाड़ के राणा कुम्भा के साथ हुआ किन्तु यह इतिहास की साक्षी के विरुद्ध है। कुम्भा की मृत्यु १५२४ संवत् में हो चुकी थी; इसी समय के लगभग तो मीरां के पितामह दूदा ने मेड़ता का राज्य प्राप्त किया था। मीरां का विवाह राणा सांगा के पुत्र भोजराज से हुआ था। मीरां ने अपने पदों में अपनी ससुराल की ओर कई स्थानों पर संकेत किया।

'राठौड़ाँ की धीयड़ो जी सीसोद्यां के साथ'

'वर पायो हिंदुवाणी सूरज, अब दिल में कहा धारी।

जीवन की घटनाएँ—मीरां में भक्ति के बीज पहले ही जम चुके थे, यहाँ अपने पति के पास वे और अंकुरित तथा पल्लवित होने लगे किन्तु मीरां को पति का सौभाग्य अधिक समय तक नहीं मिला। संवत् १५८० के लगभग भोजराज का स्वर्गवास हो गया, मीरां विधवा हो गयीं। इस घटना से उनका मन संसार से विरक्त हो उठा होगा, और वे कृष्ण की भक्ति में और भी अधिक डूब गयी होंगी। मीरां ने अपनी रचनाओं में अपने वैधव्य का उल्लेख नहीं किया, कारण स्पष्ट है, वे कृष्ण को ही अपना पति मानती थीं। उधर कुछ और भी राजनीतिक घटनाएँ घटीं। मीरां के श्वसुर राणा साँगा का देहावसान सं० १५८४ में हो गया। उनके बाद रत्नसिंह, जो भोजराज के छोटे भाई थे, सिंहासनारूढ़ हुए। १५८८ में, चार वर्ष बाद ही रत्नसिंह की भी मृत्यु हो गयी।

तब रत्नसिंह के सौतेले भाई विक्रमादित्य राणा हुए। विक्रमादित्य मीरां को इन बातों को नहीं सह सके, एक राजमहल की रानी साधुओं के साथ रहे, गाये, नाचे। ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने मीरां को इस पथ से विचलित कर देने के लिए निरन्तर प्रयत्न किये। जब मीरां ने कोई ध्यान न दिया तो राज-मर्यादा के लिए मीरां को बलि कर देने का निश्चय किया। पहले जहर का प्याला भेजा, मीरां उसको पी गयी, और उसका मीरां पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। फिर एक पिटारे में विषधर सर्प भेजा, वह शालिग्राम की बटिया बन गया। इन दोनों घटनाओं का मीरां के पदों में एकानेक बार उल्लेख है।

"विष को प्यालो राणा जी मेल्यो, द्यो मेड़तणी ने प्याय
कर चर्णामृत पी गई रे, गुण गोविंद री गाय।"

* * *

"सांप पिटारा राणा भेज्यो मीरा हाथ दिया जाय।
न्हाय धोय जब देखण लागी, सालिगराम गई पाय।"

नाभादास ने अपने 'भक्तमाल' में विष-प्याला पीने का उल्लेख किया है।

'दुष्टनि दोष विचार मृत्यु को उद्यम कीयो
बार न बांको भयो, गरल अमृत ज्यों पीयो।'

'प्रियादास' ने भक्तमाल की टीका में और भी कई घटनाओं का उल्लेख किया है। अकबर तानसेन के साथ मीरां के दर्शन करने आया। वृन्दावन में जीव गुसाईं से मीरां मिलीं। जीव

गुसाईं ने स्त्रियों से मिलने का निषेध कर रखा था। जब मीरां मिलने गयीं तो यही उत्तर दिया कि वे किसी भी स्त्री से नहीं मिलते। मीरां ने कहला भेजा कि कृष्ण ही एक पुरुष है, शेष सब उनकी स्त्रियां ही हैं। इस उत्तर से गुसाईंजी प्रभावित हुए और मीरां से मिले। मीरां मेवाड़ छोड़ कर द्वारिका चली गयीं, वहाँ राय रणछोर की सेवा में रहीं। यहीं जब मेवाड़ को लौटा लेजाने को लोग आये तो मीरां रणछोरजी की मूर्ति में समा गयीं। (प्राय: संवत् १६०३)

'सुनि विदा होन गई राय रनछोर जू पै
छांड़ौं राखो ही न लीन भई नहीं पाइये

मीरां और तुलसीदास—जनश्रुति में यह भी विश्वास किया जाता है कि जब मीरां को मेवाड़ में बहुत कष्ट मिले थे तो उन्होंने तुलसीदासजी को पत्र लिख कर परामर्श माँगा था कि—

श्री तुलसी सब सुख निधान, दुख हरन गुसाँई।
घर के स्वजन हमारे जेते सबन उपाधि बढ़ाई॥
साधु सन्त अस भजन करन मोहिं देत कलेश महाई।
बालापन तें मीरा की रही गिरधरलाल मिताई॥
सो तौ अब छूटत नहिं क्यों हूँ लगी लगन वरिआई।
हमको कहा उचित करिबो है सो लिखियो समुझाई।

इसके उत्तर में कहते हैं तुलसी ने लिख भेजा था कि—

जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिये ताहि कोटि वैरी सम जद्यपि परम सनेही॥

इस घटना का उल्लेख 'मूल गुसाँईं चरित' में भी किया गया है। इसको पूर्णतः प्रामाणिक नहीं माना जाता। इसका एक कारण तो यह बतलाया जाता है कि मीरां की पदावली में यह पद मिलता नहीं, मिलता भी है तो किसी दूसरे रूप में। दूसरे तुलसी और मीरां के जीवन-काल का जो भाग परस्पर मिलता है, वह कौनसा है, और उस समय मीरां वह पत्र लिख भी सकती थीं और तुलसीदास तभी ख्याति पा भी चुके थे कि मीरां उनसे परामर्श मांगती ? ये प्रश्न विवादास्पद हैं। इसका विस्तृत समाधान परशुराम चतुर्वेदी की 'मीरांबाई की पदावली' नामक पुस्तक के परिशिष्ट से किया जा सकता है। मीरांबाई की मृत्यु के सम्बन्ध में इतिहासकारों ने निश्चय किया है कि उसका संवत् १६३० वि० (सन् १५४६ ई०) है। यदि तुलसीदास का जन्म सं० १५८७ वि० में माना जाय तो मीरां से तुलसी का पत्र-व्यवहार असम्भव होगा किन्तु यदि वेणीमाधवदास के गुसाईं चरित के आधार पर जन्म संवत् १५५४ माना जाय तो तुलसी और मीरां में पत्र-व्यवहार सम्भव माना जा सकता है। 'गुसाँईचरित' की तिथियों की प्रामाणिकता असन्दिग्ध नहीं है।

मीरां के गुरु—किम्वदन्तियों में प्रचलित है कि मीरां ने रैदास भक्त को अपना गुरु बनाया। मीरां की छाप से मिलने वाले कितने ही पद भी मिलते हैं, जिनमें 'रैदास' के गुरु होने का उल्लेख है; उदाहरणार्थ—

मेरो मन लागो हरिसूँ, अब न रहूँगी अटकी।
गुरु मिलिया रैदासजी दीन्हीं ग्यान की गुटकी॥

अथवा—

रैदास सन्त मिले मोंहि सतगुरु, दीन्ह सरन सहदानी।

किन्तु इतिहास की दृष्टि से यह मत मान्य नहीं हो सकता। रैदास मीरां से पहले हुए हैं। सन् संवत् का हिसाब लगाने से तो रैदास की मृत्यु मीरां के जन्म से पूर्व ही हो गयी थी, ऐसा मानना पड़ता है। संवत् १५५० या १५६० के बाद रैदास जीवित नहीं थे। मीरां का जन्म सं० १५५५ में हुआ।

तब, या तो ये पद प्रक्षिप्त हैं, और मीरां की पदावली में किसी ने मिला दिये हैं, या उन्होंने रैदास की वाणी से प्रभावित होकर तथा उनके अन्य अनुयायियों से रैदास की भक्ति के स्वरूप को सुन-समझकर उन्हें गुरु मान लिया होगा। रैदासी सम्प्रदाय में सम्मिलित हो गयी होंगी।

वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुयायियों ने यह चेष्टा की थी कि मीरां पुष्टिमार्ग में दीक्षित हो जायँ। कृष्णदास अधिकारी की वार्ता में स्पष्ट उल्लेख है कि कृष्णदास अधिकारीजी ने उनसे कहा 'जो तू श्री आचार्यजी महाप्रभून की सेवक नाहीं, होत ताते तेरी भेंट हम हाथ में छूवेंगे नाहीं।' मीरां ने पुष्टिमार्ग स्वीकार नहीं किया। प्रतीत ऐसा होता है कि मीरां को कृष्ण से बालकपन में ही जो प्रेम हो गया था, वह इतना गहरा, दृढ़ और स्वाभाविक था कि उसने उसकी आयु के साथ बढ़ कर मीरां

को पूर्णतः प्रेम-विभोर कर दिया। उसे 'गुरु' आदि की मर्यादा का ध्यान ही नहीं आया। यद्यपि उस युग में गुरु का बड़ा महत्व था, 'निगुरा' व्यक्ति घृणा और बहिष्कार के योग्य समझा जाता था किन्तु मीरां ने फिर भी गुरु नहीं किया।

अधिक सम्भावना यही लगती है कि मीरां का कोई गुरु नहीं था। हाँ 'सन्त-समागम' उन्हें विशेष प्रिय था। और 'कृष्ण' या ब्रह्म ही उनका 'सतगुरु' था। मीरां ने जहाँ 'निगुरा' को बुरा कहा है, वहाँ उनका अभिप्राय 'सतगुरु हरि' से विरक्त रहने वाले व्यक्ति से ही है। यथा—

म्हांरा सतगुरु वेगा आज्योजी, म्हारे सुखरी सीर बुवाज्यो जी।
तुम बीछड़ियाँ दुख पाऊँ जी, मेरा मन मांहीं मुरझाऊँ जी॥
ज्यूँ जल त्याग्या मीना जी, तुम दरसण विना खोना जी।

अथवा—

सतगुरु म्हारी प्रीति निभाज्यो जी।

अथवा—

निरधारां आधार जगत गुरु, तुम बिन होय अकाज।

जिसको हरि से गुरु मिल जायँ उसे और क्या चाहिये?

युग की प्रवृत्तियां—मीरां जिस युग में हुई वह धार्मिक-सहिष्णुता का युग था। विदेशी शासकों की क्रूरता का आतङ्क इस युग में कम हो गया था। फलतः शतशः वर्षों से हृदय में उमड़ती हुई करुणा का बाँध इस समय टूट पड़ा था; उसने काव्य का और भक्ति का रूप ग्रहण कर लिया था। यही कारण है कि

इस युग में कबीर और जायसी की बाणी से भेद पैदा हो गया था। कबीर और जायसी में, अथवा कबीर से जायसी तक के युग में कवि-धर्म का उपयोगिता-पक्ष हिन्दू-मुसलमानों को मिल जाने के लिए एक आह्वान था। इस समस्या को जैसे इतिहास ने अकबर को सिंहासनारूढ़ कराके हल कर दिया था। अब काव्य में इसकी चर्चा नहीं होती। कवि और काव्य ने धर्म-प्रवर्तन का दम्भ भी त्याग दिया। पर कवि-धर्म का भाव-पक्ष अब भी 'कबीर' द्वारा निर्देशित 'ज्ञान' मार्ग की धूमिल पगडंडी नहीं छोड़ सका। 'ज्ञान' और 'भक्ति' में जैसे प्रतिद्वन्द्विता खड़ी हो गयी हो। तुलसी ने दोनों का समन्वय करने की चेष्टा की। सूर तथा नन्ददास ने 'उद्धव' 'गोपी' के रूप में ज्ञान और भक्ति का स्पष्ट विवाद ही करा दिया और ज्ञान को परास्त करने का पूरा उद्योग किया। तुलसी के ज्ञान में शुद्धता आ गयी है, वह ज्ञान कबीर के ज्ञान जैसा गोरखपन्थियों के हठयोग से मिलकर नहीं बना। सूर के उद्धव में अवश्य कबीरवादी ज्ञान की हलकी झलक है। ज्ञान और भक्ति की इस प्रतिद्वन्द्विता को मीरां ने समाप्त ही कर दिया। ज्ञान के उपादान भक्ति में समा गये हैं। इस युग में भक्ति की प्रवृत्ति भी सरल नहीं थी। एक वह भक्ति थी जो ज्ञानवादी सन्तों में निराकार की आराधना का आधार थी; यह 'नाम' की भक्ति थी रूप की नहीं। दूसरे शब्दों में यह भक्ति हृदय के लिए खूँटा मात्र थी, जिससे मन बँधा रहे। दूसरी भक्ति नाम-रूप दोनों की थी, जिसमें रूप बाहरी वृत्ति को बिरमाये

रखने के लिए और नाम अन्तर्वृत्ति को भक्ति में प्रवृत्त रखने के लिए। इस भक्ति में ही 'राम' से बड़ा उसका 'नाम' माना गया है। इसके दूसरे पहलू को महत्ता देने वाली एक भिन्न भक्ति मानी जायगी जिसमें नाम को नहीं रूप को ही माना गया हो। ऐसी ही भक्ति में यह गाया जाता है—

मधुकर कासों कहि समझाऊँ।
अंग अंग गुन गहे स्याम के, निर्गुन काहि बताऊँ॥

अथवा—

या घट भीतर सगुन निरन्तर रहे स्याम भरिपूरि।
पालागौं कहियो मोहन सौं जोग कूबरी दीजै।
सूरदास प्रभु-रूप निहारैं हमरे सम्मुख कीजै॥

इस युग में ये सभी भक्ति-प्रवृत्तियाँ किसी न किसी रूप में अवश्य मिलती हैं। इन प्रवृत्तियों के साथ भक्ति में दास्य, सख्य और वात्सल्य-भाव की भक्ति के भी प्रकार हैं।

मीरां की प्रवृत्तियां—भक्तियुग का प्रभाव मीरां पर अवश्य ही पड़ा है जैसा सभी पर पड़ता है। युग की अन्तप्रवृत्ति के कारण ही मीरां को भक्ति ने आकर्षित किया। किन्तु उनकी भक्ति रूपात्मक 'दाम्पत्य' भाव की भक्ति थी। नाम का महत्व मीरां के लिए नहीं है, उनके रूप का ही महत्व है। नाम के साथ गुण का घनिष्ठ सम्बन्ध है, वह गुण भी मीरां के लिए कोई विशेष महत्व नहीं रखते कि उनकी छाप कोई प्रभाव बढ़ा सके। मीरां ने तो 'गिरिधर' से प्रेम किया है, वह उनकी परिणीता हो गई है। उनके ही

रँग में रँग गयी हैं। इसीलिए मीरां में अपने प्रेम की पीड़ा अथवा विरह की आग तो है, पर भक्त की सी वह गिड़गिड़ाहट नहीं है जिसमें अपने को 'पतितन कौ टीकौ' माना जाय और अपने दुर्गुणों और पापों का स्मरण अथवा उद्‍घाटन किया जाय।

मीरां में इस भावना का अभाव है। किसी भी पद में उन्होंने ऐसा दैन्य प्रकट नहीं किया। वह तो अपने को नहीं देखतीं कृष्ण को देखती हैं; उनके मानस-पटल पर कृष्ण-प्रेम की छाप है, उनके समस्त उद्‍गारों में या तो कृष्ण के रूप का वर्णन है, अथवा अपना समर्पण, अथवा विरह-दशा और संयोग-दशा का। उनका मन, अतः, या तो कृष्ण के रूप पर या उसकी मीरां सम्बन्धी मानसिक प्रतिक्रिया पर विचार करता है और उसे ही निवेदन कर देता है।

ज्ञान—ज्ञान में गोरखपंथियों का हठयोग उस काल में सन्तों तथा सर्व-साधारण में विशेष प्रचलित था, किन्तु यह युग उसके विरोध का तो था ही, फिर भी सर्व-साधारण में उसकी चर्चा थी। मीरां ने इस हठयोग का कहीं-कहीं उल्लेख किया है। इस हठयोग की शब्दावली का चमत्कार तो मीरां में देखने को मिलता है पर मीरां की आत्मा का स्पन्दन उसके साथ नहीं है।

मीरां के इष्टदेव—मीरां 'गिरधर नागर' की चेरी थीं। 'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।' स्पष्ट ही यह 'गिरधर नागर' गोवर्द्धनधारी श्रीकृष्ण थे। किन्तु मीरां की इस उपासना और इस प्रेमार्पण में भी कोई संकुचित साम्प्रदायिक भाव नहीं थे।

जब जिस नाम से उसे स्मरण करने में उन्हें सुविधा हुई है, तब उसी नाम का उपयोग उन्होंने कर लिया है। हाँ, साधारणतः कृष्ण के गिरिधर नाम के बाद राम का नाम ही उन्हें विशेष प्रिय रहा है। राम और कृष्ण दोनों ही विष्णु के अवतार हैं। कृष्ण के अनन्य भक्त सूर ने भी राम और कृष्ण में अन्तर नहीं समझा और एक अवतार में दूसरे अवतार की घटनाओं का आरोप कर दिया है। मीरां ने भी हरि के चरणों का विष्णु के समस्त अवतारों के चरणों के रूप में तादात्म्य कर दिया है।

मन रे परसि हरि के चरण
जिण चरण प्रह्लाद परसे, इन्द्र पदवी धारण,
जिण चरण ध्रुव अटल कीने, राखि अपनी सरण,
जिण चरण ब्रह्मांड भेट्यो, नखसिखां सिरी धरण,
जिण चरण प्रभु परसि लीने, तारि गोतम घरण,
जिण चरण काली नाग नाथ्यो गोप लीला करण,

इसमें नृसिंह, नारायण, वामन, राम तथा कृष्ण अवतारों का उल्लेख हुआ है। मीरां सभी को एक मानती हैं। किन्तु राम का नाम, 'गिरधर नागर' के बाद कई बार आया है—'राम तने रंग राची, राणा मैं तो साँवलिया रँग राची रे 'राम नाम बिन घड़ी न सुहावे, राम मिले म्हाँरा हियरा ठहराय'। नन्द-नन्दन, गोविन्द, नारायण में तो वैष्णव प्रणाली ही दीखती है पर कबीर अथवा सन्तों की भांति मीरां ने 'रमैया' शब्द का भी प्रयोग किया है। 'जोगी' अथवा जोगीरा' में गोरख और लोक-वृत्ति

दोनों का रूप है।

इन सब में भी मीरां का भाव उसी अपने मनमोहन गिरिधर नागर से है। 'कृष्ण' के हाथ वे बिक चुकी थीं। उनका इष्टदेव सिर पर 'मोरन की चन्द्रकला' का मुकुट पहनता है। केसर का तिलक लगाता है, कानों में मकराकृत कुण्डल, छुद्र घण्ट, किंकिनी कटि में। ऐसे कृष्ण पर वे विमोहित हो गयी हैं। कोई अपने इष्ट को राक्षसों का नाश करने वाले रूप में ग्रहण करता है, कोई उसकी मनोरम लीलाओं पर न्योछावर होता है, किन्तु मीरां में दाम्पत्य-रति भाव की भक्ति भासित हो पड़ी है, कृष्ण उसके पति हैं, और मीरां स्वकीया पतिव्रता। उन्होंने सूर आदि की भाँति गोपियों का प्रतिनिधित्व नहीं किया वरन् वे स्वयं ही दाम्पत्य भाव से प्रेरित थी। कृष्ण का सौन्दर्य रूप-वेष जैसा भी हो वही उनके लिए श्रेष्ठतम है, और उसके समक्ष कोई और सौन्दर्य नहीं टिकता। सौन्दर्य को मीरां ने सौन्दर्य के कारण ग्रहण नहीं किया, सौन्दर्य की रूपासक्ति से उनका मन कृष्ण के वश नहीं हुआ, कृष्ण के प्रति किसी पूर्व-प्रेम की विद्यमानता के कारण ही उन्हें कृष्ण का सौन्दर्य उतना उत्कृष्ट लगा है। 'गिरिधर म्हारो साँचो प्रीतम,' यह मीरां ने बताया और तभी कहा 'देखत रूप लुभाऊँ', यही नहीं मीरां अनुभव करके राणा से कहती हैं—

"राणा जी म्हाँरी प्रीत पुरवली मैं काँई करूँ"

यहीं हमें विदित होता है कि मीरां और सूर की गोपियों के

प्रेम के धरातल में साधन के कारण भेद उत्पन्न हो गया है। सूर की गोपियों के लिए रूप का आकर्षण पहले, तब प्रेम; मीरा में प्रेम पहले तब रूपासक्ति। गोपियों को कृष्ण की बाल-लीला, क्रीड़ा, रसरास की स्मृतियों का भी भरोसा था, और उनके विरह में ईर्ष्या भी आ गयी थी। वे परित्यक्ता होकर भी प्रेम का पोषण कर रही थीं। मीरां का प्रेम सहज प्रेम है, पूर्व प्रेम है। वह जग पड़ा है, उन्होंने प्रिय के साथ संयोग का लाभ प्राप्त किया है। "रैण दिना वाके सँग खेलूँ, ज्यूं-त्यूं वाहि रिझाऊँ"। मीरां में इस संयोग का हार्दिक आनन्द उमड़ा पड़ता है, 'इन नैनन मेरा साहिब बसता, डरती पलक न नाँउ री।......सुख की सेज बिछाउँ री'—उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया है: 'जिनका पिया परदेस बसत है, लिख-लिख भेजें पाती। मेरा पिया मेरे हीय बसत है, ना कहुँ आती-जाती।' फिर भी, यह संयोग सदा नहीं बना रहा है, वियोग की भावना भी मीरां में है, और यही भावना प्रेम-पीड़ा बन कर उनमें विशेष प्रबल और व्याप्त है।

मीरां की प्रेम-पीड़ा में प्रियतम के बिछुड़ने का ही भाव है, उनका किसी और के प्रेम में फँस जाने का नहीं। यहाँ कुब्जा ने अपना कब्जा नहीं दिखाया। इस प्रकार कृष्ण और मीरां में सीधा सम्पर्क है, मीरां कृष्ण के अतिरिक्त किसी को नहीं देख पातीं। उद्धव, सुदामा, राधा कभी-कभी किंचित् काल के लिए उनकी रचना में, उनके मन में कृष्ण के साथ आये हैं, पर 'कुब्जा' नहीं आ पायो। मीरां की यह अनन्यता धन्य है। मीरां के कृष्ण मीरां से बँधे हैं,

उसके प्रेम से बँधे हैं।

मीरां के गीत—मीरां गायिका है। उनकी समस्त रचना गीत के अथवा पदों के रूप में ही अवतरित हुई है। इस युग में पद-प्रणाली का विशेष प्राबल्य था। जयदेव की गीत-गोविन्द से विद्यापति तथा चण्डीदास की वाणी में उतर कर जिसे कवि सूर और तुलसी तक ने अपनाया, मीरां में भी उसी शैली की ओर झुकाव हुआ। किन्तु इन सबसे मीरां की धज निराली है। वैष्णव भक्तों के द्वारा पदों में साकार सगुण कृष्ण-राम का निरूपण हुआ है। सन्त-कवियों ने निर्गुण-निराकार का ज्ञान पदों द्वारा प्रकट किया है। वैष्णवों ने जब उसका निरूपण किया तो उनमें या तो भागवत से लिया हुआ कथा-ज्ञान था, (जैसे सूर आदि में) अथवा नागरिक रसिकता का भाव (विद्यापति आदि में)। सन्तों में ज्ञानवादिता के कारण गेय-काव्य के गीति-रस का अभाव ही था। मीरां के गीतों में, अतः, भागवत-गाथा-ज्ञान का बोझ नहीं मिलता, और नागरिक रसिकता का भी अत्यन्त अभाव हो गया है। उनके गीतों में यथार्थ प्रगीतता मिलती है, जिसमें सहज-लोक-वृत्ति, सहज हृदयोद्‌गार, जिसमें कहीं भी कठोर अथवा कटु भावों को अवकाश नहीं, कोमल, मधुर और करुण यही तीन भाव मीरां की वाणी में ओत-प्रोत हैं। इनमें भी सहज स्वाभाविक भाषा, सरल मुहाविरा और अत्यन्त साधारण परमार्थिक अलंकार-योजना सोने में सुगन्ध का कार्य करती है। पद और गीत लिखते हुए भी सूर में एक प्रबन्ध-सूत्रता मिलती है, कम से कम

उनके मुक्त पदों में भी कथा-भाग का बीज और अंकुर रहता है, किन्तु मीरां में यह नहीं। तुलसी की विनय के पदों की भाँति का भी आत्म-निवेदन मीरां में नहीं मिलता। वह राजसी ठाठ और आतङ्क मीरां में कहाँ? मीरां में विनय नहीं, प्रेम-निवेदन और प्रेम-समर्पण है। इसीलिए उनके गीत कोकिल की एक कूक के समान, हृदयों को पार कर जाने वाले हैं। उनमें छन्द-शास्त्र की दृष्टि से कुछ दोष कहीं-कहीं मिलते हैं, किन्तु ऐसा कौन है जो हृदय के सङ्गीत को छन्द के बन्धन में बाँधे। सङ्गीत के स्वर-लोच में छन्द सम्बन्धी विषमता स्वतः ही विलीन हो जाती है।

'मीरां के गीतों में पाण्डित्य नहीं है, हृदय के सहज उद्गार हैं। उसने पण्डितों के लिए नहीं लिखा, वरन् जन-साधारण के लिए। उसके गीत सच्चे अर्थ में लोक-गीत कहे जा सकते हैं। लोक-गीतों की शैली में एक तो यह प्रवृत्ति होती है कि अन्त में कुछ शब्द स्वर साधने के लिए रहते हैं, जैसे कि मीरां के इस पद में—'राम नाम मेरे मन, राम रसिया रिझाऊँ-रिझाऊँ ओ माय। यह 'प्रभाव' प्रत्येक चरण के अन्त में मिलता है। कहीं-कहीं 'म्हारो महाराज' शब्द आरम्भ के सुर का आरम्भ बनाया जाता है, जैसा मीरां ने लिखा है 'हो जी म्हाराज छाँड़ मत जा ज्यो।'

काव्य-सौन्दर्य—मीरां के सम्बन्ध में यह प्रश्न नहीं उठ सकता कि वह भक्त पहले थीं या कवि। कारण यह है कि उनकी भक्ति में और काव्य में कोई अन्तर नहीं। उनकी भक्ति किसी साम्प्र-

दायिक सीमा में घिरी हुई नहीं थी। वह मुक्त हृदय से उद्भूत थी। इसीलिए पूर्णतः काव्यमय थी। उनका प्रत्येक पद एक सहज काव्य से युक्त है और अलंकार-योजना अत्यन्त मार्मिक हुई है। अधिकांश अलंकार प्रायः सादृश्यमूलक हैं जिनमें से भी रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा प्रधान हैं। उक्तिप्रधान, अलंकारों का समावेश कम है। शब्दों का सौन्दर्य मीरां में है तो अवश्य पर वह उतना अनुप्रास यमक आदि के आश्रित नहीं। वह शब्दों की सुचारु ध्वनि-संतुलना पर निर्भर करता है। इस शब्द-सौन्दर्य का एक उदाहरण है।

'राम मिलण के काज सखी, मेरे आरति उर में जागी री।
तलफत तलफत कल न परत है, विरहबाण उरि लागी री॥
निसदिन पंथ निहारूँ पीव को, पलक न पल भरि लागी री।
विरह भवंग मेरो डस्यो है कलेजो, लहरि हलाहल जागी री॥'

शब्दों ने स्वयं अपनी विविध ताल-गति से युक्त अपनी रुनझुन का समां इस करुणा के प्रवाह में बाँध रखा है। इस शब्दों के मूल और सहज सौन्दर्य के आगे अनुप्रास और यमक का विन्यास कितना कठोर और उद्वेगकारी लगेगा।

मीरां का यथार्थ काव्य-सौन्दर्य भावमय उक्तियों में है, जो किसी शास्त्रीय अलङ्कार-विधान में नहीं बाँधे जा सकते—मीरां के साजन घर आये हैं, पर वह अभागिन सो रही है, साजन चले गये—अब दुःख का क्या कहना :

मैं जाण्यो नाहीं प्रभु को मिलण कैसे होइरी।
आये मेरे सजना फिरि गये अँगना, मैं अभागण रही सोइरी॥
अब फारूँगी चीर करूँ गल कंथा, रहूंगी वैरागण होइरी।
चुरियाँ फोरूँ माँग बखेरूँ, कजरा डारूँ धोइरी॥'

बंगाल के ही नहीं विश्व के मर्मी कवि रवीन्द्र को मीरां ने प्रभावित किया है, उपरोक्त पंक्तियों में जो भाव है, उस पर ही रवीन्द्र का भी एक गीत है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी 'गार्ड-नर' नामक रचना का भाव भी मीरां के एक पद से लिया है, ऐसा माना जाता है। वह पद यह है :

मने चाकर राखोजी, मने चाकर राखोजी।
चाकर रहसूं बाग लगा सूं, नित उठ दरसण पासूं॥
बिन्द्राबन की कुंजगलिन में, तेरी लीला गासूँ।
चाकरी में दरसण पाऊँ, सुमिरण पाऊँ खरची॥
भाव-भगति जागीरी पाऊँ, तीनों बातों सरसी।

*　　*　　*　　*

आधीरात प्रभु दरसन दैहैं प्रेमनदी के तीरा॥

इन मर्मस्पर्शी भाव-सूक्तियों ने मीरां का एक अद्वितीय स्थान साहित्य में बना दिया है। उसके काव्य का सौन्दर्य सीप से निकले मोती के जैसा है।

७

रसिक कवि बिहारीलाल

सतसैया के दोहरा, ज्यों नावक के तीर।
देखत में छोटे लगें, घाव करें गम्भीर॥

जीवनवृत्त—कविवर बिहारीलाल के जीवन-वृत्त पर प्रकाश डालने वाले कुछ दोहे उनकी सतसई में मिलते हैं। उनके ही अन्तर्साक्ष्य के आधार पर हम उनके जीवनचरित के सम्बन्ध में कुछ कह सकते हैं।

बिहारीलालजी का जन्म संवत् १६६० में बतलाया जाता है किन्तु उनकी सतसई की समाप्ति की तिथि निश्चित है। उनके आश्रयदाता मिर्जा राजा जयशाह का शासनकाल संवत् १६७६ से १७२२ तक रहा। इन दोनों बातों के आधार पर यह संवत् प्रामाणिक मालूम होता है। उनसठ वर्ष की अवस्था ऐसी नहीं जिसमें कि कोई शृङ्गारिक कविता न कर सके। वह दोहा इस प्रकार है :—

संवत ग्रह शशि जलधि छिति, तिथि छठ बासर चंद।
चैत मास पख कृष्ण में, पूरन आनँद कंद॥

ग्रह=६, शशि=१, जलधि=७, छिति=१. अङ्कानां वामतो गतिः। इस हिसाब से यह तिथि १७१६ बैठती है। नीचे के दोहों से उनके जीवन के सम्बन्ध में कुछ तथ्य निकाले जा सकते हैं।

क- प्रगट भये द्विजराज कुल, सुबस बसे ब्रज आइ।
मेरो हरौ कलेस सब, केसो केसो राइ॥

ख- जनम ग्वालियर जानिये, खंड बुंदेले बाल।
तरुनाई आई सुखद, मथुरा बसि ससुराल॥

ग- आवत जात न जानिये, तेजहि तजि सियरानु।
घरहिं जमाई लौं घट्यो, खरौ पूस दिन मानु॥

(क) से यह तथ्य निकलता है कि बिहारीलालजी ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। उनके पिता का नाम केशवराय था और केशव भगवान् कृष्ण के समान वे अपनी इच्छा से ब्रज में आकर बसे थे। इसके आधार पर कोई-कोई आलोचक उन्हें प्रसिद्ध केशवदास का पुत्र मानते हैं और कोई राय शब्द के आधार पर ब्रह्मभट्ट बतलाते हैं। केशव के जीवनकाल के सन्-संवत् से यह बात असम्भव नहीं किन्तु बिहारी के पिता केशवदास न थे क्योंकि वे तो ओड़छा में रहते थे। न कि ब्रज में।

(ख) से यह प्रकट होता है कि उनका जन्म गवालियर में हुआ और तरुनाई उनकी सुसराल (मथुरा) में बीती। (ग) से यह अनुमान होता है कि शायद उनको सुसराल में अनादृत

होना पड़ा। उसी के पश्चात् वे जयपुर पहुँचे और वहाँ नीचे के दोहे के आधार पर उन्होंने दरबार में अपनी पहुँच कर ली। कहा जाता है महाराज जयसिंह ने बिहारी को एक एक दोहे पर एक-एक अशर्फ़ी प्रदान की थी।

नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास इहि काल,
अली कली ही सौं बिध्यौ, आगे कौन हवाल

इस दोहे ने जादू का सा काम किया। नवागत रानी के प्रेम में प्रजा की सुध भूले हुए राजा जयशाह ने अपना राज-काज देखना आरम्भ कर दिया। यद्यपि इस दोहे में नीचे की गाथा की छाया है तथापि उसका उचित अवसर पर प्रयोग करने में बिहारी की सूझ सराहनीय है। इसी को कहते हैं 'कान्तासम्मिततयोपदेश युजे' काव्य कान्ता का सा मधुर उपदेश देने का काम करता है। उस गाथा का संस्कृत रूपान्तर इस प्रकार है ;—

ईषद् कोषविकासं यावन्नाप्नोति मालती कलिका।
मकरन्दपानलोलुप मधुकर किं तावदेव मर्दयसि॥

बिहारी ने इसकी छाया अवश्य ली किन्तु इस छाया में उन्होंने अपने रंग भर उसे सुरम्य बना दिया है। बिध्यो में जो सौष्ठव, शिष्टता और प्रसङ्गानुकूलता आगई है वह मर्दयसि में नहीं। भौंरा रस-पान ही करता है मर्दन नहीं करता है। बिन्ध्यौ में घर से बाहर न आने की व्यञ्जना भी है और आगे कौन हवाल में वह व्यञ्जना और भी गहरी हो गई है।

रीतिकाल की मूल प्रवृत्तियां—भक्ति-काल में जहाँ राज्याश्रय

को ठुकराने की प्रवृत्ति थी ('सन्तन कहा सीकरो सों काम' या 'कीन्हे प्राकृत नर गुन गाना गिरा सिर धुन लागि पछताना') वहाँ रीतिकाल में कविता राज्याश्रय में पहुँच गयी थी। यद्यपि उस समय भी अच्छे कवि स्वान्तःसुखाय कविता लिखते थे तथापि उसमें आश्रयदाता की प्रसन्नता के अर्थ की भी भावना अधिक रहती थी। जहाँ भक्ति-काल में भगवान् के आश्रय में तथा अपनी जातीय श्रेष्ठता की अव्यक्त चेतना में हार की मनोवृत्ति के निराकरण की भावना थी वहाँ रीतिकाल में हारी हुई मनोवृत्ति को विलासिता के मधु में भुला देने की ओर झुकाव था। इस लिए उस काल में शृङ्गारिता का प्राधान्य हो गया था। उन दिनों संघर्ष की भावना कुछ कमी पर थी। कवि लोगों में राजसी ठाठ-बाट से रह कर अपने आश्रयदाताओं का सा जीवन व्यतीत करने की प्रवृत्ति आगई थी। संस्कृत में लक्षण-ग्रन्थों की परम्परा जोर से चल पड़ी थी। अनुकरण के लिए प्रचुर सामग्री मिल जाती थी और कवि लोग सहज में ही आचार्यत्व का भी श्रेय पा लेते थे।

उस काल में कविता स्वतः स्फूर्ति का विषय न रह कर बंधे-बंधाए साँचों में ढलने लगी थी और वह लक्षणों के उदाहरण-स्वरूप होने लगी। काव्य की प्रवृत्ति मुक्तक की ओर हो गयी थी। राजा लोगों का ध्यान किसी एक ही वस्तु में अधिक काल तक नहीं रमता। मुक्तक काव्य उनकी इस मनोवृत्ति के अनुकूल था। शृङ्गार और नीति के मुक्तकों के लिए कवित्त सवैये और दोहे

ही अधिक उपयुक्त थे। दोहों की परम्परा बहुत पुरानी थी। उसमें ध्वनि और व्यञ्जना के लिए अधिक गुञ्जाइश रहती है। सतसई की भी परम्परा प्राचीन थी। प्राकृत की हालकृत गाथा-सप्तशती बहुत प्रसिद्ध है। बिहारी उससे प्रभावित भी थे। तुलसी की भी एक सतसई कही जाती है।

रीति-काल के समय के कवियों में कला का प्राधान्य था जो भाव-कला के आश्रित हो गया था। कला भाव के प्रसार में सहायक न थी वरन कला के उद्‌घाटन के लिए भावों का अस्तित्व था। उस समय के कवियों में प्रायः कवित्व और आचार्यत्व साथ-साथ चलता था। कुछ ऐसे भी कवि थे जिनमें आचार्यत्व स्वतन्त्र रूप से तो न था वरन् उनका कवित्व आचार्यत्व की पृष्ठ-भूमि पर पोषित और पल्लवित हुआ था। बिहारी उसी प्रकार के कवि थे। उनमें काव्याङ्गों के लक्षण तो नहीं हैं किन्तु शृङ्गार सम्बन्धी काव्य के सभी उपादान (सञ्चारी और अनुभाव, हाव-भाव आदि) अलङ्कारों के सूत्र में गुँथे हुए मिल जाते हैं। यदि लक्षण लिखने को आचार्यत्व की कसौटी माना जाय तो बिहारी आचार्य नहीं थे किन्तु यदि शास्त्र-ज्ञान को आचार्यत्व का निर्णायक माना जाय तो बिहारी के आचार्यत्व में किसी प्रकार की कमी न थी।

रीति-काल के कवियों के आलम्बन तो प्रायः कृष्ण भगवान् ही रहे क्योंकि प्रत्येक सहृदय के हृदय-मन्दिर में कृष्ण काव्य के रसाभिषेक से उनकी प्रतिष्ठा हो चुकी थी किन्तु रीति-काल में वह

भक्ति-भावना और इष्ट देव के लीला-वर्णन का निजीपन और उत्साह न रहा जो कृष्ण-काव्य में था। कृष्ण का काव्य-सौरभ जहाँ जीवन के रस और सौन्दर्य से लहलहाते सद्यःप्रस्फुटित पाटल पुष्पों का सा था वहाँ रीतिकाल की मँहक तीव्र होते हुए भी गन्धी के इत्र की भाँति कृत्रिम थी। कृष्ण-काव्य में शृङ्गार जीवन-विटप में विकसित पुष्पराशि की भाँति था जिसमें फूलों के साथ पत्तियों का भी महत्त्व था किन्तु रीतिकाल की कविता में उन पत्तियों का महत्व कम रह गया। रीतिकाल में जीवन का चित्रण है अवश्य किन्तु वह शृङ्गार रस के आश्रित है। भक्तिकाल में शृङ्गार जीवन के आश्रित था। इसका यह अर्थ न समझा जाय कि रीतिकाल के कवि नितान्त अभक्त होते थे या नितान्त अव्यावहारिक थे। बिहारी ने तो बड़े सुन्दर-सुन्दर भक्ति रस और नीति के दोहे लिखे हैं यद्यपि वे अनुपात में शृङ्गार की अपेक्षा बहुत ही नगण्य हैं तथापि वे गुण में उत्कृष्ट हैं।

शब्दालङ्कार—शायद शब्दालङ्कार सम्बन्धी दोहों से प्रभावित होकर कुछ आलोचकों ने जैसे एडविन ग्रीव्ज़ ने बिहारी को शब्दों का कलाबाज़ (Clever manipulator of words) कहा है किन्तु बिहारी के शब्दालङ्कार भी भावगर्भित हैं, यद्यपि उनमें इतना अर्थगाम्भीर्य नहीं जितना कि उनके और दोहों में है। यहाँ पर ऐसे दोहों के दो उदाहरण दिये जाते हैं :—

> अज्यों तर्‌यौना ही रह्यो, श्रुति सेवत इक अंग।
> नाक बास बेसर लह्यो बसि मुक्तन के संग॥

बर जीते सर मैन के ऐसे देखे मै न ।
हरनी के नैनान तै, हरि नीके ये नैन ॥

पहले श्लेष का चमत्कार है (तर्‍योना=(१) कान का आभूषण, (२) तर्‍यो ना= तरा नहीं; श्रुति=(१) कान, (२) वेद-शास्त्र; नाक=(१) नासिका, (२) स्वर्ग; मुकन=(१) मोतियों, (२) मुक्त लोग) और दूसरे में यमक का, किन्तु ये भी कुछ तथ्य को लेकर चले हैं। पहले में केवल शास्त्रज्ञान की निरर्थकता काव्यमय ढंग से प्रमाणित की है। सच्चे साधक अनुभव और सत्संग को अधिक महत्व देते हैं। दूसरे में नेत्रों की प्रशंसा के साथ काव्य-लिङ्ग का भी चमत्कार है। हरनी तो विजित हो शर का शिकार बन जाता है, किन्तु ये नैन अपने कार्य-सौष्ठव में पंचशर के तीखे बाणों को भी जीत लेते हैं। कहीं-कहीं तो शाब्दिक चमत्कार द्वारा बिहारी ने बड़ा शिष्ट हास्य भी उपस्थित किया है देखिए—

चिरजीवौ जोरी, जुरै क्यों न सनेह गँभीर।
को घटि, ये वृषभानुजा, वे हलधर के वीर॥

(वृषभानुजा=(१) वृषभ=बैल, अनुजा=बहन, (२) वृषभानु की पुत्री राधा, हलधर=(१) बैल (२) बलरामजी; वीर=भाई ।)

अर्थालङ्कारों की सार्थकता—यद्यपि बिहारी ने अपनी नायिकाओं के स्वाभाविक सौन्दर्य के आगे अलङ्कारों का तिरस्कार-सा किया है और इनको डग-पग पौंछन को पाइन्दाज तथा दर्पन के-से मोर्चे कहा है, तथापि इनकी कविता-कामिनी देह में सुगठित, अङ्ग-अङ्ग छवि की लपट से दीप्त होती हुई भी अलङ्कारों

से भी सुसम्पन्न है। उसके अलङ्कार भी कर्ण के कवच और कुण्डलों की भाँति उसके शरीर का अङ्ग बन गये हैं। जब अलङ्कारों में रस का समन्वय हो जाता है तब वे भी सप्राण दिखाई देने लगते हैं और मृत-मण्डन नहीं रह जाते। वैसे तो किमिव हि मधुराणां मंडनं नाकृतीनाम्' और 'सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यम्' की बात ठीक है किन्तु जहाँ ईश्वरदत्त सौन्दर्य के साथ शृङ्गार भी हो वहाँ सोने में सुगन्ध आने लगती है। विहारी के दोहों में यही बात है। नीचे का दोहा लीजिये—

मृगनैनी दृग की फरक, उर-उछाह, तन-फूल।
बिन हीं पिय आगम उमगि, पलटन लगी दुकूल॥

इस दोहे में सिलाकारीजी ने दस अलङ्कार दिखाये हैं। इसमें परिकरांकुर (मृगनैनी में साभिप्राय विशेष्य होने के कारण), प्रथम विभावना (बिना कारण के कार्य होना), द्वितीय समुच्चय (एक कार्य के कई कारण) प्रमाण आदि अलङ्कार स्पष्ट हैं किन्तु उससे अधिक आगमिष्यति पति के हर्ष, अभिलाषा, उत्कण्ठा, मति (मन का निश्चय) आदि सञ्चारियों का चमत्कार है। इसमें पति की अनुपस्थिति में उसकी मलिन दशा की भी व्यञ्जना है।

विहारी ने असङ्गति, विभावना विशेषोक्ति, विरोधाभास अलङ्कारों द्वारा यह भी व्यञ्जित किया है कि 'प्रेम के पंथ को पैंड़ो ही न्यारो है' आगे के उदाहरण में देखिए—

दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर-चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन हियैं, दई, नई यह रीति॥

इस दोहे में सभी क्रियाएँ सूत के रूपक में अनस्यूत हैं और उनमें लक्षणा शक्ति का भी सुन्दर उपयोग हुआ है। सूत में ये सब क्रियाएँ एक ही स्थान में होती हैं किन्तु प्रेम में भिन्न-भिन्न स्थानों में। कारण और कार्य के भिन्न अधिकरण होने के कारण इसमें असंगति है और कार्यों की अनेकता के कारण समुच्चय। इस दोहे में हमको थोड़े में बहुत-सी बात कहने का भी चमत्कार मिलता है।

अलङ्कारों के दो एक उदाहरण और लीजिए:—

अपन्हुति—

धुरवा होंहि न, अलि, उठै धुवाँ धरनि-चहुँ कोद।
जारत आवत जगत कौं, पावस-प्रथम पयोद॥

मीलित—

जुवति जोन्ह नैं मिलि गई, नैंक न होति लखाइ।
सौंधे कैं डोरैं लगी, अली चली सँग जाइ॥

(सौंधे=सुगन्ध खुशबूदार तेल आदि की)

प्रतिवस्तूपमा—

चटक न छाँड़त घटतु हू, सज्जन-नेहु गँभीरु।
फीकौ परै न, बरु घटै, रँग्यो चोल रँग चीरु॥

बिहारी ने एक से एक बढ़िया अन्योक्तियाँ लिखी हैं। एक अन्योक्ति द्वारा मुसलमानों के आश्रय में हिन्दुओं पर चढ़ाई

करने के लिए अपने आश्रयदाता को बड़ी करारी फटकार लगाई है। देखिये :—

स्वारथु, सुकृतु न, श्रमु वृथा, देखि, विहंग, विचारि।
बाज, पराए पानि परि, तूँ पच्छीनु न मारि॥

समास गुण—आचार्य शुक्लजी की शब्दावली का प्रयोग करते हुए हम कह सकते हैं कि सफल मुक्तककार के लिए जो कल्पना की समाहार-शक्ति और भाषा की समास-शक्ति वाञ्छनीय है, वह बिहारी में पूरी तौर से वर्तमान थी। बिहारी की यह विशेषता है कि वे कल्पना के सहारे बहुत-से चित्रों को एक साथ उपस्थित कर भाषा की समास शक्ति के कारण दोहे जैसे छोटे छन्द में उन्हें गुम्फित कर देते हैं। इसके दिखलाने के लिए एक उदाहरण पर्याप्त होगा।

बतरस-लालच लाल की, मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करैं, भौंहनु हँसै, दैन कहैं नटि जाइ॥

इसके द्वारा कवि ने नायिका की सजीवता, फालतू उमंग, चापल्य, विनोदप्रियता का चित्र अङ्कित कर दिया है। सिनेमा की रील-सी खुलने लगती है। इसमें संयोग शृङ्गार के स्थायी भाव रति की दीप्ति पूर्णरूपेण प्रस्फुटित हो रही है और शृङ्गार का सहायक होकर हास्य सञ्चारी रूप से मिला हुआ है। 'विलास' हाव की भी सुन्दर छटा है।

भाषा-माधुर्य—शब्द और अर्थ काव्य के शरीर माने गये हैं। वास्तव में शरीरत्व धर्म शब्दों में ही घटित होता है अर्थ

तो हृदय और मस्तिष्क की भाँति आत्मा और शरीर का मिलन-केन्द्र है। बिहारी के शब्द रविबाबू की चित्रांगदा की भाँति (किन्तु उनका सौन्दर्य माँगा हुआ नहीं है) अपने सौन्दर्य के बल पर हृदय-द्वार में प्रवेश पा जाते हैं और फिर अर्थ-गाम्भीर्य गुण से उस पर अपना अटल साम्राज्य स्थापित कर लेते हैं। बाहरी सौन्दर्य बुरी चीज़ नहीं यदि उसमें आन्तरिक सौन्दर्य की भी दीप्ति हो। बिहारी ने भाषा के सहज माधुर्य का पूरा लाभ उठाया है। वह कला की प्रेषणीयता को द्विगुणित कर देता है। कुछ दोहे तो ऐसे हैं कि जिनको सुनते ही भाषा का न जानने वाला भी चमत्कृत हो उठता है। देखिए :—

रस सिंगार मंजनु किए कंजनु भंजनु दैन।
अंजनु रंजनु हूँ बिना खंजनु गंजनु, नैन॥
रनित-भृंग-घंटावली, झरित दान मधु नीरु।
मंद मंद आवत चल्यौ, कुंजरु कुंज-समीरु॥
नभ-लाली चाली निसा, चटकाली धुन कीन।
रति पाली, आली, अनत, आए बनमाली न॥

दूसरे दोहे में तो हाथी की मस्त चाल का चित्र-सा उपस्थित हो जाता है। हम यह मानेंगे कि इन दोहों में अर्थ-गाम्भीर्य की अपेक्षा शब्द-माधुर्य अधिक है किन्तु वह बहुत उत्कृष्ट है। ये दोहे माधुर्य गुण और वैदर्भी रीति के अच्छे नमूने हैं।

शब्द-चयन-चातुर्य—आगे के उदाहरण में विशेषोक्ति के चमत्कार के साथ बिहारी के शब्दचयन का भी चातुर्य देखिए:—

त्यौं त्यौं प्यासेई रहत, ज्यौं ज्यौं पियत अघाइ।
सगुन सलौने रूप की, जु न चख-तृपा बुझाइ॥

इसमें रूप की क्षण-क्षण में नवीन होने वाली अपारता और प्रेम-तृषा की अमरता एक साथ व्यञ्जित कर दी गयी है। सगुन विशेषण देकर रूप में केवल ऐन्द्रिकता होने का भी दोष मिटा दिया गया है। साथ ही सलोनेपन से केवल लावण्य का ही बोध नहीं कराया वरन् प्यास न बुझने की भी सार्थकता दिखा दी है। अघाय शब्द से विशेषोक्ति के लिए जो कारण की पूर्णता आवश्यक है वही द्योतित नहीं होती वरन् प्रेम-पिपासा की तीव्रता और रूप की रोचकता भी व्यञ्जित हो जाती है। अघा कर वही चीज ग्रहण की जाती है जो सुस्वादु हो।

भावापहरण—इसी शब्द-चयन चातुर्य के कारण बिहारी अपने पूर्ववर्ती और अनुवर्ती कवियों से बढ़े हुए हैं। बिहारी ने भाव की चोरी अवश्य की है किन्तु अपनी भाषा के चमत्कार से उसमें नई जान फूँक दी है और इस कारण वे साहित्यिक चोरी के अभियोग से बच जाते हैं। पं० पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी की इस विशेषता के उद्घाटन का स्तुत्य कार्य किया है। शर्माजी के उदाहरणों में से यहाँ पर एक दिया जाता है। स्वेद के सात्विक भाव दिखाने के सम्बन्ध में बिहारी का एक दोहा है—

नैंक उतै उठ बैठियै, कहा रहे गहि गेहु।
छुटी जाति नँहदी छिनकु, मँहदी सूकन देहु॥

इस दोहे में नीचे के श्लोक की छाया है—

सुभग-व्यजनविचालनशिथिलभुजाभूदियं व्यस्यापि,
उद्वर्तनं न सख्याः समाप्यते किञ्चिदपगच्छ।

इस श्लोक का भाव यह है कि किसी नायिका का उबटना हो रहा है, नायक पास बैठा है। इस कारण नायिका के शरीर में पसीना आ गया है। एक सखी पंखा झलते-झलते थक गई है तो दूसरी सखी कहती है कि आप ज़रा दूसरी जगह चले जाइए जिससे सखी का उबटन समाप्त हो सके।

बिहारी ने उबटन के स्थान में मँहदी की बात कही है क्योंकि उबटन के समय नायक का पास बैठना शिष्टाचार के विरुद्ध है। मँहदी की बात और वह भी मँहदी अर्थात् नाखूनों की (इसमें अनुप्रास का भी चमत्कार आ गया है) अधिक विदग्धतापूर्ण है। 'किञ्चिदपगच्छ' की बात 'नैक उतै उठ बैठिये' में आ गयी है किन्तु इसमें नायिका की सखी का रोष पूरा नहीं होता। 'कहा रहे गहि गेह' में मुहावरे का भी प्रयोग हो जाता है और नायक की मुग्धता भी व्यञ्जित हो जाती है। 'छनक' शब्द 'कहा रहे गहि गेह' की बात को और भी बल दे देता है। उसमें व्यञ्जना यह है कि नायक एक क्षण को भी नायिका के पास से नहीं हटना चाहता है। दूसरों ने जो बिहारी का अनुकरण किया है वे उसके शब्द-योजना-चातुर्य को नहीं पा सके हैं। इसका भी एक उदाहरण शर्माजी की भूमिका से दिया जाता है—

लिखन बैठि जाकी सबी गहि गहि गरब गरूर।
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर॥

इस भाव को शृङ्गार-सतसईकार ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

सगरब गरब खींचै सदा, चतुर चितेरे आय।
पर बाकी बाँकी अदा, नेकु न खींची जाय॥

बिहारी के दोहे में कूर शब्द को लाकर बात को स्पष्ट रूप से न कहने का जो चमत्कार है वह इस दोहे में नहीं। सगरब गरब और खींचै खींची में पुनरुक्ति-सी दिखाई देती है। दूसरे दोहे में बात को स्पष्ट कह कर अर्थ को संकुचित कर दिया है। विहारी के दोहे में चित्र न खिंच सकने के कारण नायिका-सम्बन्धी और चित्रकार सम्बन्धी दोनों हो सकते हैं। नायिका का 'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति' वाला सौन्दर्य देख कर वह स्तम्भित हो जाता है, उसकी अँगुलियाँ नहीं चलतीं। 'गहि गहि गरब गरूर' में अनुप्रास का प्रयोग दोहे को चमत्कार-पूर्ण बना देता है।

रस सामग्री—यह तो रही शरीर की बात। यदि काव्य की आत्मा रस की ओर दृष्टि डालें तो भी बिहारी के दोहे रस से लबालब भरपूर मिलेंगे। बिहारी ने यद्यपि कोई लक्षण-ग्रन्थ नहीं लिखा तथापि उनके दोहों की पृष्ठभूमि में उस समय के रीति-ग्रन्थों का पूरा विधान परिलक्षित होता है। शृङ्गार रस के उभय पक्षों के अन्तर्गत हाव, भाव, अनुभाव, नायिका, भेद, दूती, षट्ऋतु आदि सभी के वर्णन उपस्थित किये गये हैं।

यद्यपि विषय के विस्तार और सामूहिक प्रभाव के कारण प्रबन्ध काव्य में मुक्तक की अपेक्षा रस-परिपाक के अच्छे अवसर मिले हैं तथापि कुशल कलाकर के हाथ में दोहा जैसा छोटा छन्द रस से भरपूर हो जाता है।

रस-सामग्री में प्रायः सभी भाव अपना महत्व रखते हैं किन्तु विभावों का और अनुभावों का जैसा सीधा वर्णन हो सकता है वैसा स्थायी और सहचारियों का नहीं। ये अधिकतर अनुभावों द्वारा अनुमेय ही रहते हैं। किसी मानसिक अवस्था को उसके नाम से बतलाने में तो स्वशब्दवाच्यत्व दोष आ जाता है। यह कहने की अपेक्षा कि लक्ष्मण को 'रोष आया' 'भृकुटि भई टेढ़ी' में अधिक बल है। अनुभावों के अन्तर्गत सात्विक भाव भी आते हैं। बिहारी ने स्वेद, कम्प, रोमाञ्च आदि के बड़े सुन्दर वर्णन किये हैं। स्वेद के दो उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं। सात्विक भावों द्वारा पाणिग्रहण के वैवाहिक कृत्य को कवि ने कितनी सजीवता देदी है।

> स्वेद-सलिलु रोमांच कुसु, गहि दुलही अरु नाथ।
> दियौ हियौ सँग हाथ कै हथलेयैं हीं हाथ॥

इस दोहे में रस की सभी सामग्री उपस्थित है। दूल्हा और दुल्हिन आलम्बन और आश्रय हैं। रोमाञ्च और स्वेद अनुभाव हैं। हृदय देने में रति भाव आ जाता है। हर्ष आदि सञ्चारी अनुमेय है। रोमाञ्च का एक और वर्णन देखिए—

मैं यह तोहीं मैं लखी, भगति अपूरब, बाल।
लहि प्रसाद-माला जु भौ तनु कंदब की माल ॥

विहारी ने केवल शास्त्रागत अनुभावों का ही वर्णन नहीं किया है वरन् अपने निरीक्षण से भी कई अनुभाव दिये हैं। व्याकुलता के अनुभाव नीचे के दोहे में देखिए—

कहा लड़ैते दृग करे, परे लाल वेहाल।
कहुँ मुरली, कहुँ पीत पटु, कहूँ मुकटु बनमाल ॥

हाव भी अनुभावों में माने गये हैं। आचार्य शुक्लजी ने इनको आलम्बन की चेष्टा होने के कारण उद्दीपन के अन्तर्गत माना है। नायिका की कुछ चेष्टाएँ साधारण होती हैं, वे तो उद्दीपन ही में आयेंगी और कुछ भाव प्रेरित होती हैं। उनमें नायिका के हृदय की रति द्योतित रहती है और उसके कारण जो कार्य घटित होते हैं वे सब हाव के अन्तर्गत आयँगे। भाव-प्रेरित होने के कारण नायिका के दृष्टिकोण से वे अनुभाव हैं। मोहक प्रभाव के कारण नायक के दृष्टिकोण से वे उद्दीपन हैं। सञ्चारियों से मिश्रित विलास हाव का एक उदाहरण लीजिए—

समरस-समर-सकोच-बस, बिवस न ठिक ठहराइ।
फिर-फिर उझकति फिरि दुरति, दुरि दुरि झमकति जाइ ॥

इसमें आवेग, अवहित्था (लज्जा के कारण भाव को छिपाना), क्रीड़ा, चपलता चार सञ्चारी भाव हैं। विलास हाव भी है।

इस प्रकार बिहारी में हमको रस की सभी सामग्री मिलती

है। विरह की दशों दशाओं के अन्तर्गत जड़ता का वर्णन देखिए—

चकी-जकी सी ह्वै रही, बूझैं बोलति नीठि।
कहूँ डीठि लागी, लगी कै काहू की डीठि॥

बिहारी की बहुज्ञता—ये महाकवि प्रतिभाशाली कवि तो थे ही, इसके अतिरिक्त प्रत्येक विषय के प्रकाण्ड पण्डित भी थे। इन्होंने अपनी सतसई में प्रायः सभी विषयों की जानकारी का परिचय दिया है। बिहारी ने शृङ्गार में श्लेष के आधार पर अपने वैद्यक के ज्ञान का बड़े सौष्ठव के साथ समावेश किया है। ज्वर में सुदर्शन चूर्ण दिया जाता है। विरह के विषम ताप से सन्तप्त नायिका को बड़ी विदग्धता के साथ उन्होंने दूती द्वारा नायक से सुदर्शन देने की प्रार्थना कराई है।

यह बिनसतु नगु राखि कै जगत बड़ौ जसु लेहु।
जरी विषम जुर जाइयैं, आय सुदरसनु देहु॥

कवि को सांख्य और वेदान्त शास्त्र का भी अच्छा ज्ञान था।

जगतु जनायौ जेहिं सकलु सो हरि जान्यौ नाँहि।
ज्यौं आँखिनु सबु देखियै, आँखि न देखी जाँहिं॥

सांख्य-शास्त्र के प्रमुख ग्रन्थ 'सांख्य-तत्त्व-कौमुदी' में बतलाया गया है कि अत्यन्त सूक्ष्म वस्तु, अति निकट वाली वस्तु जैसे आँख की स्याही और अत्यन्त दूर की चीज़ इत्यादि दिखाई नहीं पड़ती है। यहाँ पर उसी कारिका की झलक है। वेदान्त के कीट-

भृङ्गी आदि दृष्टान्तों को कवि ने अपनाया है। वेदान्त के सिद्धान्तों का नीचे के सोरठे में बहुत उत्तम वर्णन है।

"मैं समझ्यौ निरधार, यह जगु काँचो काँचु सो।
एकै रूपु अपार, प्रतिबिंबित लखियतु जहाँ।"

इसमें वेदान्त के सार स्वरूप "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः" की छाया दिखलाई पड़ती है। ये महाकवि अपने समय के विज्ञान से भी परिचित थे। नल के पानी से उपमा देते हुए दो स्थानों पर विहारी ने बतलाया है कि पानी जितने ऊँचे से डाला जाता है, उतना ही ऊपर चढ़ता है और फिर वह नीचे ही गिरता है। पानी अपनी सतह तक पहुँचता है (Water finds its own level) इस सिद्धान्त को वे जानते थे, और इसका काव्य में वर्णन भी अच्छा किया है :—

नर की अरु नल-नीर की, गति एकै कर जोइ।
जेतौ नीचौ ह्वै चलै, तेतौ ऊँचौ होइ॥

किवलनुमा, गेंद के उछालने, गिरने आदि की उपमाएँ भी कवि की वैज्ञानिक रुचि का परिचय देती हैं। दो शीशों के बीच में जब कोई चीज़ रख दी जाती है तब उसके अनेक प्रतिबिम्ब दिखाई देते हैं। इस सिद्धान्त को बहु-प्रतिबिम्ब-वाद (Multiple-images) कहते हैं। इस सिद्धान्त को ध्यान में रख कर विहारी ने नायिका के शरीर की द्युति का बड़ा चमत्कार-पूर्ण वर्णन किया है।

अंग-अंग प्रतिबिंब परि दर्पन सैं सब गात।
दुहरे, तिहरे, चौहरे, भूषन जाने जात॥

बिहारी रंगों के मिश्रण की कला में दक्ष थे। उनका मङ्गलाचरण इसका प्रमाण है :—

मेरी भव-बाधा हरौ, राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाँईं परैं, स्याम हरित दुति होइ॥

पीले और श्याम रंग के मिलने से हरा रंग हो जाता है, रंग के चमत्कार के साथ हरित शब्द में श्लेष भी है और वह शब्द लक्षणा से प्रसन्नता का द्योतक बन जाता है। हरा रंग प्रकाश में चाहे मूल रंग माना जाता है किन्तु चित्रकला में मिश्रित रंग ही माना गया है। इस बात को प्रमाणित करने के लिए एक कला की पुस्तक से ((The Outline of Art—edited by Sir Williom Opem पृष्ठ ५६४) छोटा-सा उद्धरण देना अनुपयुक्त न होगा—

On the other hand green a secondary in paint because it can be produced by mixing yellow with blue pigment, is a primary in light.

बिहारी की अतिशयोक्तियां—बिहारी ने विरह-वर्णन में कुछ अतिशयोक्तियाँ की हैं जिनके कारण वे आलोचकों के उपहास के भाजन बने हैं। उनके दो एक उदाहरण नीचे दिये जाते हैं:—

क— सुनत पथिक-मुँह, माह-निसि लुवैं चलत उहिँ गाम।
बिनु बूझैं, बिनु हीं कहैं, जियति बिचारी बाम॥

ख— आड़े दैं आले बसन, जाड़े हूँ की राति।
साहसु ककै सनेह-बस सखी सबै ढिंग जाति॥

मानसिक परिस्थिति के कारण प्रकृति के प्रभाव में अन्तर अवश्य पड़ जाता है। वह अन्तर विशेष मानसिक परिस्थिति वाले के लिए ही होता है, अन्य किसी के लिए नहीं होता और न वस्तु में ही परिवर्तन होता है। मानसिक दशा के कारण परिवर्तन के आभास के उदाहरण बिहारी में भी मिल जाते हैं। उनके कारण कवि हास्यास्पद नहीं बनता है, देखिए :—

हौं हीं बौरी बिरह-बस, कै बौरी सब गाउँ।
कहा जानि ए कहत हैं, ससिहिं सीतकर-नाउँ॥

ऐसे वर्णन में तो किसी को आपत्ति न होगी परन्तु पिछले (क–) दोहे में आपत्ति होना स्वाभाविक है। इसका यही परिहार है कि इन प्रयोगों को हमें शाब्दिक अर्थ में न लेना चाहिए वरन् इनका लाक्षणिक अर्थ ही लगाना चाहिए। कवि विरहिणी नायिका के विरह के प्रभाव को बतलाता है। आचार्य शुक्लजी ने ऐसे प्रयोगों के आधार पर बिहारी के विरह-वर्णन को जायसी की अपेक्षा हास्यास्पद कहा है। जायसी भी इस तरह की अत्युक्तियों से खाली नहीं है। जो पक्षी नागमती की चिट्ठी लेकर जाता है उसके पास कोई पक्षी नहीं जाता है। यहाँ तो स्वयं नायिका ही है। इन वर्णनों में लाक्षणिकता भी कहीं-कहीं मर्यादा से बाहर हो गयी है। सौन्दर्य वर्णन में तो उन्होंने बात को ज़रा और स्पष्ट करके लाक्षणिकता के लिए भी गुञ्जाइश नहीं रक्खी है:-

पत्रा ही तिथि पाइयै, वा घर कैं चहुँ पास।
नितिप्रित पून्यौई रहै, आनन-ओप-उजास॥

इस सम्बन्ध में तो हम यही कहेंगे कि अतिशयता को बल देने के लिए ही बिहारी ने ऐसा कहा है। ऐसे प्रयोगों में बिहारी की बात का शाब्दिक अर्थ लगाकर उनकी आलोचना करना उनके प्रति अन्याय होगा। अब ज़माना वस्तुवाद का आगया है। अतिशयता उतनी ही ग्राह्य होती है जितनी कि व्यङ्ग्य-चित्रों में। बिहारी के सौन्दर्य वर्णन की विशेषता—यद्यपि बिहारी ने अन्य कवियों की भाँति नख-शिख-मय सौन्दर्य का वर्णन किया है तथापि उनके विरह-वर्णन की कुछ विशेषता है वह यह कि उन्होंने शरीर के स्वाभाविक सौन्दर्य के आगे आभूषणों को विशेष महत्व नहीं दिया है। उन्हें 'दरपन के से मोर्चे', 'दृगपग पौंछन को किए पायन्दाज' कह कर उनका तिरस्कार किया है। बिहारी ने व्यापक सौन्दर्य का भी वर्णन कर उसमें 'क्षणे-क्षणे यन्नवता-मुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः' के आदर्श का निर्वाह किया है। नायिका के चित्र न खिंच सकने का कारण उसके रूप की क्षण क्षण में बदलने वाली नवीन छटा ही थी। 'अंग-अंग छवि की लपट उपटत जाति अछेह' में भी यही बात है। बिहारी ने सौन्दर्य को विषयीगत भी माना है और विषयगत भी। अर्थात् सौन्दर्य सुन्दर वस्तु में भी है और द्रष्टा की रुचि में भी। बिहारी ने द्रष्टा की रुचि को अधिक महत्व दिया है:—

समै समै सुन्दर सबै, रूपु कुरूपु न कोइ।
मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होइ॥

इसके मानी यह नहीं थे कि बिहारी वस्तुगत सौन्दर्य को न

स्वीकार करते हों। वे वैयक्तिक रुचि को विकृति की हद तक नहीं पहुँचाना चाहते। नाक के रोग से यदि कोई कपूर को शोरा समझ कर छोड़ दे तो कपूर की शीतलता और सुवास की महिमा नहीं घटती। देखिए :—

सीतलता अरु सुवास कौ घटै न महिमा-मूर।
पीनस वारैं जौ तज्यौं सोरा जानि कपूर ॥

सौन्दर्य ही मूल धन (मूर) है। रुचि से जो शोभा की बढ़ती होती है, वह व्याज की वस्तु है।

बिहारी की भाषा—बिहारी की भाषा के माधुर्य के हम कुछ उदाहरण दे चुके हैं। बिहारी की भाषा है तो ब्रजभाषा ही किन्तु उसमें कहीं-कहीं थोड़ा-बहुत पूर्वी प्रभाव भी आ गया है। जैसे लीन्ह, कीन्ह, जौन, आहि आदि। यत्र-तत्र बुन्देलखण्डी के भी (जैसे करवी, पायवो, गीधे, बीधे, कोद (दिशा), गुहार, लाने आदि) प्रयोग मिलते हैं। इनकी भाषा में कुछ प्राकृत के भी शब्द जैसे लोयन, समर आदि जो साहित्यिक ब्रज-भाषा में प्रचलित थे, आ गये हैं। कुछ प्रान्तीय और अप्रयुक्त शब्दों के प्रयोग का भी इन पर दोष लगाया जाता है (देखिए हिन्दी नव-रत्न प्रश्न ३८४, ३६५) किन्तु यह प्रश्न सापेक्ष है जो एक ब्रजवासी को साधारण लगता है वह एक पूर्वी प्रान्त के निवासी को असाधारण लगता है, नीठि, चिलक, गाँस आदि ऐसे ही शब्द हैं। रोज का अर्थ भी ब्रज में रोना या मातम है, रोज़ा या नित्य नहीं।

बिहारी की भाषा का सबसे मुख्य गुण समास गुण है।

गागर में सागर भरने की कला उन्होंने सिद्ध कर ली थी। जो बात उनके टीकाकार कुण्डली जैसे बड़े छन्द में भी नहीं व्यक्त कर सके हैं उन्होंने दोहे में कर दी है। उनके दोहों में बड़े सुन्दर शब्द-चित्र भी उपस्थित हो जाते हैं। देखिए—

बतरस-लालच लाल की, मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करै, भौंहनु हँसै, दैन कहै नटि जाइ॥

नहिं अन्हाइ, नहिं जाइ घर, चित चिहुँट्यौ तकि तीर।
परसि फुरहरी लै फिरति, बिहँसति धँसति न नीर॥

इन चित्रों में गतिमय चित्रों का तारतम्य-सा बँध जाता है।

बिहारी में मुहावरों का भी प्रयोग है जैसे 'छुवै छिगुनी पहुँचो गहत', 'सूधे पाँय न परत', 'रहे गाहि गेहु' सौंहे करत न नैन' 'मूठि सी मारि'। 'मन बाँधना', 'बूड़े बहे हजार', 'चाली निसां', 'हिए गढ़ै' आदि लाक्षणिक प्रयोगों ने भाषा की सजीवता बढ़ा दी है। बिहारी में बहुत से प्रयोगों में पौराणिक अन्तर्कथाओं की ओर भी संकेत है। जैसे—बलि बावन को बौत, छाया ग्रहिणी (सुरसा) बाढ़त विरह ज्यों पांचाली को चीर, दुर्योधन की जल थंभ विधि आदि भाषा की सम्पन्नता एवं साहित्यिकता बढ़ा कर बिहारी के शास्त्र-ज्ञान का भी परिचय देते हैं। बिहारी के दोहों का बड़ा भारी प्रभाव है। यथासम्भव उन्होंने बड़े-बड़े समास बचाये हैं। (दोहे में इनकी गुंजाइश भी नहीं रहती) किन्तु जहाँ कहीं वे आये हैं, जैसे समरस-समर-सकोच-वस-विवस, व्रजकेलि-निकुंज-मग आदि में, वहाँ वे प्रवाह में बाधक नहीं हुए हैं। बिहारी सतसई अपनी भाषा तथा भाव दोनों ही के कारण शृङ्गार रस का भी शृङ्गार है।

वीर-रस के उत्थापक भूषण

जीवन-वृत्त—भूषण के जन्म और मृत्यु का विषय विवादास्पद है। शिवसिंह-सरोज में उनका जन्म सं० १७३८ वि० लिखा है। मिश्रबन्धु सं०१६६२ वि० मानते हैं। पं० भागीरथप्रसाद दीक्षित 'सरोज' के संवत् को ठीक मानते हैं—इसके दो कारण दिये हैं। एक यह कि शिवसिंह सेंगर ने सरोज का निर्माण भूषण-मतिराम के जीवन-चरित्र को संशोधित कर परिष्कृत रूप देने के लिए किया था; उनका यह परिष्कार विशेष मान्य इसलिए है कि ठा० शिवसिंह की जन्मभूमि काँथा, भूषण के निवास स्थान तिकमापुर से १५-२० मील ही दूर है। दूसरा यह कि 'आश्रयदाता, उपाधिदाता तथा अन्य कार्यों तथा रचनाओं से भी इसी बात की पुष्टि होती है'। दीक्षितजी ने सेंगराज का संवत् तो प्रामाणिक मान लिया है, जिसे प्रामाणिक न मानने का एक कारण तो स्पष्ट था। दीक्षितजी के मतानुसार भूषणजी का जन्म बनपुर में हुआ तिकवाँपुर में नहीं; किन्तु सेंगरजी का वह कथन स्वीकार नहीं किया जो यथार्थतः जीवन से सम्बन्ध रखता है, अर्थात् भूषण का शिवाजी के दरबार में रहना। दो में से एक ही बात सत्य ठहर सकती है, या तो जन्म-संवत् ठीक हो या उनका शिवाजी के दरबार में जाना ठीक हो। दीक्षितजी ने जन्म-संवत् ठीक मान कर दूसरी बात को अप्रमाणिक माना है, और अन्य व्यक्तियों ने शिवाजी के दरबार में जाना ठीक माना है। भागी-

रथप्रसादजी दीक्षित ने भगीरथ प्रयत्न करके भी अपना मत अभी मान्य नहीं करा पाये। भूषण शिवाजी से मिले अवश्य होंगे, ऐसा प्रतीत होता है। अतः संवत् १७३८ उनका जन्म-काल नहीं हो सकता। मिश्रबन्धुओं का दिया हुआ समय उचित प्रतीत होता है। उनका मृत्यु-काल सं० १७८६ वि० के लगभग माना जा सकता है। इनको निश्चित मानने के लिए अभी अकाट्य प्रमाणों की अपेक्षा बनी ही हुई है।

निवास तथा कुल—भूषण तिकवाँपुर के रहने वाले कश्यप गोत्र के थे। रत्नाकर इनके पिता का नाम था। मतिराम इनके भाई थे, पर 'छन्दसार पिंगल अथवा वृत्त कौमुदी' में मतिराम का जो परिचय किन्हीं प्रतियों में मिला है उन्हें यदि मान्य समझा जाय तो मतिराम सहोदर नहीं थे। चिन्तामणि इनके बड़े भाई थे, यह सभी मानते हैं। कुछ लोग नीलकंठ को भी इनका भाई मानते हैं। भूषण के सभी भाई प्रसिद्ध कवि हुए हैं।

असली नाम—'भूषण' तो उपाधि है। इनका वास्तविक नाम क्या है यह ठीक-ठीक ज्ञात नहीं हुआ। जो महानुभाव भूषण का असली नाम 'मतिराम' मानते हैं वे अधिक ठोस और दृढ़ प्रमाण पर निर्भर नहीं करते।

भूषण **के आश्रयदाता**—भूषण के कई आश्रयदाता थे। पहले तो शिवाजी थे। जबतक शिवाजी रहे, भूषण कहीं नहीं गये। शिवाजी की मृत्यु के उपरांत वे कई राज-दरबारों में गये।

शिवाजी के पौत्र साहू तो उनमें प्रधान हैं, फिर छत्रसाल पन्ना नरेश, हृदयराम चित्रकूटाधिपति आदि प्रधान हैं।

भूषण के संबंध में यह किंवदन्ती है कि उनकी भाभी ने उन्हें नमक न लाने का उपालंभ दिया था, तभी वे घर छोड़ कर चल पड़े और कविता की सिद्धि प्राप्त कर शिवाजी की सेवा में पहुँचे। पहली भेंट में ही इन्होंने शिवाजी को ५२ छन्द सुना दिये जिसके उपहार में इन्हें ५२ गांव मिले (इसके अतिरिक्त अपनी भाभी के पास भेजने के लिए ५२ गाड़ी नमक भी मांग लिया था)। उस काल में भूषण का बड़ा सम्मान था। जब ये एक बार पन्नानरेश छत्रसाल के दरबार में गये तो स्वयं नरेश ने इनकी पालकी से कंधा लगा दिया था। छत्रसाल की प्रशंसा में भी इन्होंने प्रायः दस छन्द लिखे हैं।

ग्रंथ-रचना—यथार्थ में जिसे ग्रंथ कह सकते हैं वह तो भूषण ने एक ही लिखा, जिसे 'शिवराजभूषण' कहा जाता है। यह 'भूषण' भूषण कवि ने पूर्वतः भलीप्रकार योजना बनाकर लिखा। शिवाबावनी उनके बावन छन्दों का संग्रह है, इनमें कोई प्रबन्ध कल्पना अथवा दूसरा विधान नहीं। संग्रहमात्र ही है। 'छत्रसालदशक' में छत्रसाल की प्रशंसा में दश छन्द कहे गये हैं। कुछ फुटकर छन्द और भी हैं जो विविध नरेशों के संबंध में हैं।

'शिवराजभूषण' में निर्माण का संवत् दिया हुआ है। यह संवत् विविध प्रतियों में भिन्न भिन्न प्रकार से है। इसके तीन रूप विशेषतः मिलते हैं :

१—शुभ सत्रह सै तीस पर बुध सुदि तेरसि मान।
भूषण शिव भूषण कियौ पढ़ियो सुनौ सुग्यान॥
२—संवत् सत्रह सै तीस सुचि वदि तेरसि मान।
भूषण शिवभूषण कियौ पढ़ियो सकल सुजान॥
३—संवत् सतरह तीस पर सुचि बदि तेरसि मान।
भूषण शिव भूषण कियो पढ़ियो सकल सुजान॥

इन तीनों पर विचार करने से विदित होता है कि कम से कम रचना के संवत् के विषय में तीनों ही एकमत हैं कि वह संवत् १७३० है।

महीना और दिनों के संबंध में मतभेद है, और जब तक 'शुचि' का अर्थ ज्येष्ठ न माना जाय तिथि ठीक नहीं बैठती। कुछ आलोचकों का कहना है कि यह संवत् ही किसी ने बाद में इस पुस्तक में मिला दिया है। यह बात कुछ आश्चर्यजनक ही है।

भूषण-ग्रन्थों की परंपरा—यथार्थ में भूषण का ग्रन्थ तो शिवराज भूषण ही है। इसमें नाम की दृष्टि से भी और विषय प्रतिपादन की शैली की दृष्टि से भी एक परम्परा का पालन मिलता है। 'शिवराज भूषण' वास्तव में एक साहित्य-शास्त्र का ग्रन्थ है। जिसमें अलङ्कारों के लक्षण और उदाहरणों में जो छन्द दिये गये हैं वे प्रायः सभी शिवाजी से संबंध रखते हैं, और कम से कम शृङ्गार रस का तो उनमें अभाव ही है। हिन्दी में ऐसी प्रणाली का प्रचार प्रायः नहीं था। हां, संस्कृत में यह प्रथा प्रचलित थी, विशेषतः दक्षिण में। वहां १३ वीं शताब्दी में वारंगल के काकतीय

राजा प्रतापरुद्र के नाम से 'विद्यानाथ' नामक एक कवि ने 'प्रतापरुद्र-यशो-भूषण' ग्रन्थ रचा। पण्डित रामकर्ण कवि ने 'यशवंत-यशो-भूषण' लिखा। १४ वीं शताब्दी में दक्षिण के अनन्तार्य ने 'कृष्णराज यशो-डिण्डिम', १५०५-१५२६ के लगभग गंगानाथ मैथिल कवि ने बीकानेर के श्रीकर्ण राजा की आज्ञा से 'कर्ण-भूषण' लिखा। इस प्रकार यह प्रणाली हिन्दी में तो उतनी प्रचलित नहीं थी और संभव है यह प्रणाली भूषण ने दक्षिण के संपर्क से ही ग्रहण की हो।

लक्षण-ग्रन्थों की परम्परा—हिंदी में लक्षण-ग्रन्थों के लिखने का आरम्भ केशव से भी पहले से माना जा सकता है, किन्तु केशव ने उसे जो रूप दिया वह आगे के कवियों और आचार्यों के लिए आदर्श हुआ। केशवदासजी ने दोहों में लक्षण दिये, कवित्त तथा सवैये में उनका उदाहरण दिया, उनका आधार प्रायः संस्कृत साहित्य-शास्त्र के ग्रन्थ थे। किन्तु विविध कारणों से, और विशेषतः भक्ति के प्राधान्य और प्रचार ने केशव द्वारा स्थापित मार्ग को कुछ काल तक अवरुद्ध रखा। भक्ति-काव्य के शिथिल होते ही यह रीति-काव्य प्रबल हो उठा, और इसमें समस्त साहित्य को व्याप्त कर लिया। भूषण इसी काल में, जो 'रीति-युग' कहलाता है, हुए थे। अतः इस युग में दो प्रवृत्तियां थीं—एक आचार्यत्व की लक्षण-ग्रन्थ रचना की; दूसरी शृङ्गार-काव्य की। अधिकांश काव्य इस युग में शृङ्गार-सम्बन्धी था, और बहुधा एक कवि में ये दोनों ही प्रवृत्तियां सम्मिलित पाई जाती हैं।

इसके समन्वय का मार्ग प्रायः यही रहा है कि दोहों में लक्षण लिखने के उपरान्त जो उदाहरण दिये गये वे सभी शृङ्गार-रस सम्बन्धी होते थे। शृङ्गार-रस में भी नायक-नायिका-भेद का वर्णन विशेष स्थान रखता था। भूषण ने इस परिपाटी में एक बड़ा परिवर्तन कर डाला, उदाहरण में शृंगार-रस का एकदम बहिष्कार कर दिया और उसके स्थान पर वीर तथा रौद्र-रस का उपयोग किया।

भूषण के युग की ऐतिहासिक तथा अन्य प्रवृत्तियां—भूषण जिस युग में हुए इतिहास में वह युग साम्राज्य-विरोधी शक्तियों के उदय का था। साम्राज्य-विरोधी से अभिप्राय साम्राज्य की भावना और उसके सिद्धान्त के विरोध से नहीं। किन्तु, साम्राज्य में मिलने वाले शैथिल्य और उसके अनाचारों तथा अत्याचारों का विरोध करने के लिए इस समय कई क्षेत्रों में विरोध की अग्नि प्रज्वलित हुई। दक्षिण में मराठे, पश्चिम में सिक्ख इसी काल में प्रबल हुए। यह औरंगज़ेब का शासन-काल था। औरंगज़ेब ने मुग़ल-साम्राज्य की मानी हुई नीति त्याग दी—वह धर्म के आधार पर प्रजा-प्रजा में अन्तर करने लगा। यही बीज असन्तोष का था—भूषण ने इस विद्रोह की ध्वनि को बुलंद करते हुए कहा—

'साँच को न मानै देवी देवता न जानै,
अरु ऐसी उर आनै मैं कहत बात जब की।
और पातसाहन के हुती चाह हिंदुन की,
अकबर शाहजहाँ कहैं साखि तब की।'

साम्राज्य की शक्ति का यह दुरुपयोग नहीं सहा जा सका। शिवाजी का उद्योग इसी युग प्रवृत्ति के कारण सफल हुआ, और इसी कारण भूषण ने शिवाजी को अपनी कविता का नायक चुना। शिवाजी का यह विद्रोह धार्मिक विद्रोह नहीं माना जा सकता; साम्राज्य की धार्मिक नीति के विरोध में किया हुआ विद्रोह धार्मिक कैसे हो सकता था ? किन्तु क्योंकि अत्याचार-भोगी हिन्दू ही थे अतः इस काल में यह विद्रोह राष्ट्रीय-भावना का होते हुए भी हिन्दुओं की हिमायत करने वाला हो ही जायगा। अन्यथा, भूषण ने बाबर के पुत्र हुमायूँ की प्रशंसा में कहा है—

'बब्बर के तब्बर हुमायूँ हद्द बांधि गये दो मैं,
एक करी ना कुरान वेद ढव की।'

और यही रूप भूषण को राष्ट्र का स्वीकार था। इस नीति को बदलने से ही औरंगजेब का विरोध हुआ और भूषण उस विरोध के मुख्य-कवि हुए, जिनकी वाणी आजतक उत्साह फूँकती है।

भूषण में साम्प्रदायिकता—यहीं इस प्रश्न पर विचार कर लेना समीचीन होगा कि क्या भूषण साम्प्रदायिक विद्वेष पैदा करने वाले हैं। ऊपर इस सम्बन्ध में कुछ विचार किया जा चुका है। किन्तु एक बात विशेष विचारणीय यह है कि भूषण की रचनाओं में जहाँ हिन्दुओं पर किये गये औरंगजेबी अत्याचारों का तो विशद वर्णन है—जैसे,

कुम्भकर्न असुर औतारी अवरंगजेब कीन्ही कत्ल,
मथुरा दोहाई फेरी रब की।
खोदि डारे देवी देव सहर मुहल्ला बांके लाखन तुरुक,
कीन्हे छूटि गई तब की—

वहाँ, भूषण ने न तो हिन्दू-धर्म की कोई प्रशंसा की है, न मुसलमान-धर्म की निन्दा। धर्म पर कहीं भी कोई आक्षेप नहीं किया गया। साम्प्रदायिक भूषण और कुछ नहीं तो 'कबीर' की भाँति ही मुसलमान धर्म पर आक्रमण कर सकते थे। 'औरंगजेब' की ही निन्दा है, उसके कृत्यों के कारण कवि को कुम्भकर्ण की याद आ गयी है, किन्तु उन्होंने अकबर, शाहजहाँ और बाबर तथा हुमायूं की स्पष्ट प्रशंसा की है। कोई भी साम्प्रदायिक ऐसा नहीं कर सकता था। भूषण में हिन्दुत्व के लिए भी कोई साम्प्रदायिक मोह अथवा तअस्सुब का भाव नहीं था; यदि यह तअस्सुब होता तो क्या वह यों लिख सकते :—

"गौरा गनपति आप औरन को देत ताप,
आपनी ही बार कूं लगाय गये दब की।"

शिवाजी ने अत्याचार के विरुद्ध झंडा खड़ा किया था। इतिहास भली प्रकार जानता है कि वे कुरान और मस्जिद का अत्यन्त आदर करते थे, और मुसलमानों की भी उनकी नजर में इज्जत थी। उनका भक्त भूषण कैसे मुसलमानों के विरुद्ध घृणा का प्रचार कर सकता था। उसने अत्याचारी अत्याचार, और अत्याचार-ग्रस्त का विशद वर्णन किया है और अत्याचार-

विरोधी को नायक के रूप में स्वीकार किया है। विरोध का यह धरातल साम्प्रदायिक नहीं है। अत्याचार-ग्रस्त को उत्साह मिले, यह भूषण ने अवश्य चाहा है, किन्तु उसमें भी साम्प्रदायिक विद्वेष नहीं माना जा सकता।

भूषण में भक्ति—भक्ति-काल इस युग में समाप्त-प्राय हो चुका था, किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि भक्ति का अभाव हो गया था। भक्ति की कई धाराएँ अन्तर में चल रही थीं। वे भी रीति-कालीन शृङ्गार और रसिकता से प्रभावित हो रही थीं। इसी युग में राम और सीता तक को भक्तों ने नायक-नायिका के रूप में चित्रित किया, पर वे भक्ति के भाव क्षीणता बनाये हुए अवश्य थे। भूषण ने शिवाजी को नायक चुना और उसमें अवतार का भाव भी स्थापित करने की चेष्टा की। 'और बांभनन देखि करत सुदामा सुधि मोहि देखि काहे सुधि भृगु की करत हौं'। कविता में शिवाजी को विष्णु ही मान लिया गया है। यह आरोप मात्र नहीं है, मान्यता है। और भी स्पष्ट शब्दों में उन्होंने लिखा है:—

> इन्द्र को अनुज तैं उपेन्द्र अवतार याते,
> तेरो बाहुबल लै सलाह साधियतु है।

हे शिवाजी, आप इन्द्र के भाई विष्णु के अवतार हैं। यह कवि का आलङ्कारिक प्रयोग नहीं, उसकी मान्यता है, जिसके आधार पर कवि ने अलङ्कार खड़ा कर दिया है। किन्तु शिवाजी में अवतार की भावना मान कर उन्होंने

उनके प्रति जिस भक्ति का प्रदर्शन किया वह भक्ति उस आध्यात्मिक भक्ति से भिन्न है, जो सन्तों और वैष्णवों में मिलती है। उस भक्ति का रूप साम्प्रदायिक माना जायगा, तथा लक्ष्य मोक्ष। भूषण की भक्ति में मोक्ष आदि धार्मिक परमार्थ पाने का कहीं भी संकेत नहीं। वीर-पूजा भाव का ही प्राधान्य है, और भक्ति उसी पूजा-भाव से है। अपने लिए किसी फल की कामना के लिए नहीं। उनकी दृष्टि में अवतार का कार्य मोक्ष-परमार्थिक अर्थ में मोक्ष दिलाने का नहीं जितना कि 'अभ्युत्थानमधर्मस्य' का, धर्म की ग्लानि को दूर करने का, संसार से अत्याचार और कलुष मिटाने का। इस दृष्टि से भूषण भक्त-कवि तो नहीं, पर उनमें भक्ति अवश्य है।

भूषण का पांडित्य—भूषण के पांडित्य के हमें दो रूप मिलते हैं। एक है शास्त्र का पांडित्य, दूसरा है विविध ज्ञान-विज्ञान का। शास्त्र का पांडित्य तो इसी से प्रकट है कि भूषण ने अलङ्कार ग्रन्थ लिखा। कुछेक अलङ्कारों को छोड़ कर आचार्यों द्वारा मान्य प्रायः सभी अलङ्कारों का उल्लेख 'शिवराजभूषण' में हुआ है। प्रत्येक अलङ्कार के दोहे में दिये हुए लक्षण बहुत स्पष्ट हैं। वे संस्कृत आचार्यों की परिभाषा से कहीं दुर्बल नहीं बैठते। कुछ विद्वानों का यह विचार रहा है कि भूषण के दिये हुए कुछ लक्षण ठीक नहीं है, किन्तु दूसरे विद्वानों का कहना है कि भूषण के लक्षण ठीक हैं, जिससे तुलना करके भूषण के अलंकारों के लक्षणों को गलत बताया गया है, यथार्थ

में वह आधार ही ग़लत है। मिश्रबंधुओं का कहना है कि भूषण ने परिणाम और दीपक के उदाहरण अन्य सभी आचार्यों से उत्तमतर दिये हैं। प्रतीत ऐसा होता है कि भूषण ने विविध आचार्यों के ग्रन्थों का अनुशीलन कर जो सब से अच्छा लक्षण विदित हुआ, उसी को मान कर अपनी रचना कर डाली। यही कारण है कि किसी एक आचार्य के आधर पर भूषण के अलंकारों की जाँच नहीं हो सकती। ज्ञान-विज्ञान को प्रकट करने वाला पांडित्य दिखाने का भूषण को अवकाश नहीं मिला।

भूषण के अलंकारों के उदाहरण बहुत स्पष्ट और निर्भ्रम होते हैं। विरोध का एक उदाहरण यह है:—

'श्री सरजा सिव तो जस सेत सों
होत हैं बैरिन के मुँह कारे,
भूषन तेरे अरुन्न प्रताप सपेत लसे
कुनबा नृप सारे।

'परिणाम' का एक सुन्दर उदाहरण नीचे के छंद में है:—

भौंसिला भूप बल भुव को भुज-भारी
भुजंगम सों भरु लीनो,
भूषन, तीखन-तेज तरन्नि सों
वैरिन को कियौ पानिप हीनो।
दारिद दौ करि वारिद सौं दलि त्यों
धरनी तल सीतल कीनो,
साहितनै कुल चन्द सिवा जस चन्द सों
चन्द कियो छवि छीनो।

वीर-काव्य की स्थापना:—हिंदी का जब से उदय हुआ तभी से वह युद्ध के वीरतामय और रौद्र वातावरण में पली है। उसका आरंभिक युग 'वीर-गाथा-काल' कहा जाता है। इस काल का कवि वीर-रस का आदर करता था, किन्तु उससे भी अधिक वीर का आदर करता था। ऐतिहासिक परिस्थितियां ही इस समय ऐसी थीं। इस समय के कवियों में हमें कुछ विशेषताएँ मिलती हैं। उनकी रचनाएँ यथार्थतः प्रबन्ध-काव्य की भांति थीं। वीरों की गाथाओं के सहारे वे अपने काव्य का भवन खड़ा करते थे। अतः रचना में वीरता के स्थल गिने-चुने ही आते थे, उनके जीवन की अन्य अनेकों रोचक और आकर्षक कहानियां उसमें समा जाती थीं। इस युग में राजपूतों के संघर्ष आपस में ही हो जाते थे, फलतः क्षुद्र सामन्तशाही वृत्ति ही काव्यों के द्वारा पोषण पा सकती थी। राजपूतों में अनेकों युद्धों का कारण विवाह अथवा प्रेम होता था। इन काव्यों में जहाँ ऐसी वीरता का उल्लेख हुआ है, वहाँ उसमें प्रेम की कहानी भी आई है। इस काल में अनेकों रासो लिखे गये, जिनमें से प्रमुख हैं, वीसलदेवरासो, पृथ्वीराजरासो, हम्मीररासो आदि। इन रासो की एक लम्बी परंपरा है जो विग्रहराज के समय से हम्मीर के समय तक चली आती है। इसके बाद युग बदला। साहित्यकार की दृष्टि दूसरी ओर गयी। अब वीर-भाव काव्य में उतना स्फुट नहीं हो सका। प्रेम-मार्गी काव्य में विशेषतः जायसी में वीर-रस का वर्णन हुआ है, पर यह जायसी के संदेश के

सामने अत्यन्त प्रभा-हीन हो गया है। तुलसी ने समाज को बल देने के लिए वीरता को कुछ निखारा, पर उनका भी समस्त लक्ष्य दूसरा था। भक्ति-युग के उपरांत तो 'वीरता' का वर्णन एक साहित्यिक परिपाटी के रूप में रह गया, निर्जीव। प्रत्येक कवि ने अपने कायर से कायर राजा को भी महान वीर और प्रतापी चित्रित करने का उद्योग किया। इसमें न विषय को लाभ हुआ न रस को। भूषण वह पहला कवि है जिसने हिंदी में वीर रस को रस की शक्ति के कारण ग्रहण किया और उस समय की सामाजिक और राजनीतिक स्थिति के लिए उपयोगी बनाया। भूषण वीर रस के यथार्थ उत्थापक हैं। उनका काव्य वीर-गाथा काव्य नहीं, मात्र वीर-काव्य है। उन्होंने प्रवन्ध-काव्य नहीं लिखा। मुक्तक शैली में ही शिवाजी के चरित्र और इतिहास की विविध घटनाओं को गूंथ दिया है। प्रत्येक छन्द में रस-प्रवाह है, प्रत्येक छन्द में कोई न कोई अलंकार योजना है, प्रत्येक छंद में या तो शिवाजी के चरित्र की कोई झलक है, यथा—

"चाहत निर्गुन सगुन को, ज्ञानवंत की बान।
प्रगट करत निर्गुन सगुन, शिवा निवाजी दान॥"

इसमें शिवाजी की दान-वीरता तथा समदृष्टि का उल्लेख है, या, शिवाजी के आतंक का, यथा—

महाराज शिवराज चढ़त तुरंग पर,
ग्रीवा जात नै करि गनीम अति बल की।
भूषन चलत सरजा की सैन भूमि पर,
छाती दरकत है खरी अखिल खल की।

किये दौरि घाव उमरावन अमीरन पै,
गई कटि नाक सिगरेई दिली दल की।
सूरत जराई किये दाह पातसाह उर,
स्याही जाय सब पातसाही मुख झलकी।

या शिवाजी के युद्ध और युद्ध वीरता का, जैसे—

भूप सिवराज कोप करी रन मण्डल में,
खग्ग गहि कूद्यौ चकता के दरबारे में।
काटे भट विकट और गजन के सुण्ड काटे,
पाटे रन भूम, काटे दुवन सितारे में।
भूषन भनत चैन उपजे शिवा के चित्त,
चौंसठ नचाई जबै रेवा के किनारे में।
आँतन की ताँत बाजी खाल की मृदंग बाजी,
खोपरी की ताल पसुपाल के अखारे में।

ऐसा ही वर्णन भूषण ने छत्रसाल तथा शिवाजी के नाती 'साहू' का किया है। छत्रसाल की तलवार का वर्णन तो अद्वितीय है।

भुज भुजगेस की वै संगिनी भुजंगिनी सी,
खेदि खेदि खाती दीह दारुन दलन के।
बखतर पाखरनि बीच धँसि जाति मीन,
पैरि पैरि जात परवाह ज्यों जलन के।
रैया राय चम्पति को छत्रसाल महाराज,
भूषन न सकतो बखान यों बलन के।

पच्छी परछीने ऐसे परे पर छीने,
वीर तेरी बरछी ने बरछीने हैं खलन को।

इस प्रकार भूषण ने अपने समय के वीर पुरुषों की वीरता को अपने काव्य का प्रधान विषय बना कर वीर-रस की हिन्दी में अनुपम प्रतिष्ठा कर डाली है।

भूषण की प्रस्थापित वीर-रस काव्य की प्रणाली का विशेष अनुकरण नहीं हो सका, इसीलिए हिन्दी में वीर-गाथा-काल अथवा भक्तिकाल की भांति कोई वीर-काव्य-काल नहीं मिलता। भूषण के साथ 'लालकवि' का नाम लिया जा सकता है। या उसके बाद के 'सूदन' का। अच्छे वीर-रस-प्रधान काव्य इन के द्वारा रचे गये। इस उदासीनता का कारण मुख्यतः राजनीतिक अवस्था है।

भूषण में ऐतिहासिक सामग्री—यों भूषण ने इतिहास नहीं लिखा पर जिन घटनाओं का उसने उल्लेख किया है वे सभी ऐतिहासिक हैं, और ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्व रखती हैं। कुछेक ऐतिहासिक भ्रमों और अज्ञानों का निवारण भी भूषण की रचनाओं से हुआ है। उदाहरण के लिए पहले इतिहासकार यह मानते थे कि अफ़ज़लखाँ और शिवाजी की मुलाक़ात में शिवाजी ने विश्वासघात किया था। उसने धोखे में अफ़ज़लखाँ पर बघनख चला कर मार डाला था। भूषण ने इस घटना का उल्लेख दूसरे ही रूप में किया था—

वैर कियो सिव चाहत हो,
तब लौं अरि बाह्यो कटार कठैठो।

योंहि मलिच्छहिं छाँड़ै नहीं,
सरजा मन तापर रोस मैं पैठौ।
भूषन क्यों अफजल्ल बचै,
अठपाव के सिंह को पायँ उमैठो।
बीछू के घाय धुक्यौई धरक ह्वै,
तो लग धाय धराधर बैठो।

पहले अफ़ज़लखाँ ने तलवार से वार किया, तब शिवाजी ने। बाद की ऐतिहासिक शोधों से भूषण के मत का ही प्रतिपादन हुआ है। किनकेड नाम के इतिहासकार ने लिखा है :—

"शिवाजी हथियार रहित दिखाई पड़ा और अफ़ज़लखाँ ने जो कि साथ में तलवार लाया था, सोचा कि उसे पकड़ लेने का अवसर आ गया है......ख़ान ने बाँई भुजा से शिवाजी की गरदन पकड़ली......साथ ही ख़ान ने अपनी तलवार उसके पेट में भौंक देने की चेष्टा की। ज़िरहबख्तर ने पाँसा पलट दिया।......उसने (शिवाजी ने) अपनी बाँई भुजा ख़ान की कमर में डाल दी, जब कि ख़ान ने अपना सीधा हाथ दुबारा वार करने के लिए ऊपर उठाया। लोहे के नख ख़ान के पेट में गहरे घुस गये, और जब वह (ख़ान) पीड़ा से तड़पा, शिवाजी ने अपनी दाँई भुजा मुक्त कर ली और शत्रु की पीठ में कटार भौंक दी।"

औरंगज़ेब और शिवाजी तथा तत्कालीन इतिहास के सम्बन्ध में भूषण ने कितनी ही सामग्री दी है, जिसका उल्लेख

हमारे क्षेत्र से बाहर है।

भूषण निश्चय ही एक महाकवि थे। उन्होंने अपनी प्रतिभा से हिन्दी साहित्य में एक नवीन लहर पैदा की, एक भारी अभाव पूरा किया। यही नहीं तत्कालीन राष्ट्रीय समस्या में पूरा सहयोग दिया। उनका काव्य नवयुग की ओर नई प्रेरणा की उत्तेजक शंख-ध्वनि थी।

: ९ :

नवयुग के वैतालिक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

परम-प्रेम-निधि रसिकवर, अति उदार गुन खान।
जग जन-रंजन आशु कवि, को हरिचंद समान॥

—चन्द्रावली नाटिका

तत्कालीन परिस्थिति—रीतिकाल में काव्य का मार्ग विलासमय बन गया था और कविता का वातावरण कुछ अवरुद्ध होगया था। कविता के रूप विशेष परिपाटी से आबद्ध होजाने के कारण उस क्षेत्र में नवीनता और मौलिकता के लिए गुंजाइश न रही थी। इधर अंग्रेज़ी राज्य के स्थापित हो जाने के कारण विशेष कर महारानी विक्टोरिया द्वारा शासन की बागडोर हाथ में लिए जाने के बाद एक नया बुद्धि-प्रधान वातावरण उपस्थित हो गया था। खास के मवासों में गुलगुली गुल्मों पर बैठने वाले कवीन्द्र वास्तविकता की कठोर भूमि पर उतर आये थे और उनकी शृंगारिक मादकता का खुमार धीरे-धीरे उतरने लगा था। यद्यपि कविता के प्राचीन संस्कारों से पीछा छुड़ाना सहज न था तथापि कविता के लिए नये-नये द्वार खुलने लगे। सन् ५७ के विप्लव की विफलता के पश्चात् ब्रिटिश राज्य के प्रति असन्तोष की अग्नि बुझी तो नहीं किन्तु महारानी विक्टोरिया के उदारता-पूर्ण घोषणा-पत्र के कारण कुछ दब अवश्य गई थी। लोग कल्याण का मार्ग अपने दोषों के सुधार और ब्रिटिश राज्य के सहारे उन्नति पथ में अग्रसर होने को समझने लगे। फिर भी

शासन की अपेक्षाकृत सुव्यवस्था ने लोगों को विदेशी राज्य की बुराइयों के प्रति उदासीन नहीं बना दिया था। वे सतर्क थे, वह समय देश-भक्तिपूर्ण राज-भक्ति का था। देश-भक्ति ही उसका मूल स्वर था। देश-भक्ति के नाते जनता में जाग्रति बढ़ाना साहित्यिक अपना कर्तव्य समझने लगे। ऐसे ही वातावरण में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का हिन्दी के रंगमंच पर अवतरण हुआ।

जीवन-वृत्त—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म काशी के सुप्रसिद्ध सेठ अमीचन्द्र के वंशज ला० गोपालचन्द्र उपनाम गिरधरदास के घर भाद्रपद शुक्ला ७ संवत् १९०७ को हुआ। बाबू गोकुलचन्द्रजी इनके छोटे भाई थे। उनके अतिरिक्त इनके दो बहिनें और थीं। ये बालकपन से बड़े चंचल और प्रतिभाशाली भी थे। 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात।' इन्होंने पाँच वर्ष की अवस्था में निम्नलिखित दोहा बना कर अपने पिता को, जो एक सुकवि थे, सुना कर प्रसन्न किया—

लै ब्यौड़ा ठाड़े भए श्री अनिरुद्ध सुजान।
बानासुर की सैन को, हनन लगे बलवान॥

इनमें तर्क और बुद्धिवाद की मात्रा भी बालकपन से ही थी। इन्होंने अपने पिता को तर्पण करते देख कर कहा था 'बाबूजी पानी में पानी मिलाने से क्या लाभ ?'

पांच वर्ष की अवस्था से उनको माता के स्नेह से वञ्चित होना पड़ा। और दस वर्ष की अवस्था में उनके पिताजी का भी गोलोक-

वास हो गया। इसी अवस्था में ये एक विपुल सम्पत्ति के मालिक बन गये। ग्यारह वर्ष की अवस्था में इनकी स्कूली शिक्षा समाप्त हो गई (यह राजा शिवप्रसाद सितारए हिन्द के घर पर स्थापित एक स्कूल में पढ़े थे। इसलिए वे उनको गुरुवत् मानते थे)। उसके पश्चात् ये पर्यटन और तीर्थ-यात्रा को निकल गये। इसी अवसर में इन्होंने मराठी, गुजराती, बंगला का ज्ञान प्राप्त कर लिया। चौदह वर्ष की अवस्था में इनका विवाह हो गया। ये स्वभाव के बड़े उदार और शाहखर्च थे। इन्होंने अपने धन को दोनों हाथों से उलीचा। काशिराज के यह कहने पर कि बबुआ घर को देख कर काम करो, उन्होंने कहा था—'हजूर, यह धन मेरे बहुत से बुजुर्गों को खा गया था, मैं इसे खा डालूँगा।' (संवत् १६२७ में अपने भाई से वे अलग रहने लगे थे)

ये बड़े स्वदेश-प्रेमी थे और स्वदेश प्रेम के नाते इन्होंने कई सार्वजनिक संस्थाएँ खोलीं और पत्र-पत्रिकाओं की स्थापना की। हरिश्चन्द्र स्कूल, जो पीछे उनके नाम से सम्बद्ध हो गया, और हरिश्चन्द्र चन्द्रिका उनमें प्रमुख हैं। आप बड़े सजीव और हास्यप्रिय थे। जिन्दादिली उस युग का विशेष गुण था और इसका हिस्सा इनको सब से ज्यादा नहीं तो किसी से कम न मिला था। इन्होंने अपने स्वभाव का परिचय स्वयं ही नीचे के छन्द में दिया है :—

सेवक गुनीजन के, चाकर चतुर के हैं,
कविन के मीत, चित हित गन गुनी के;

सीधेन सौं सीधे, महा बांके हम बांकेन सों,
हरीचंद नगद दमाद अभिमानी के।
चाहिबे की चाह, काहू की न परवाह, नेही
नेह के दिवाने सदा सूरत निमानी के;
सखा प्यारे कृष्ण के गुलाम राधारानी के।

संवत् १९४२ में भारत का इन्दु सदा के लिए अस्त हो गया।

प्रभाव और प्रवृत्तियां—भारतेन्दु पर उस युग का तो प्रभाव पूरी तौर से था ही, ये अपने युग के सब से सजग कलाकार थे किन्तु इनके कुछ व्यक्तिगत संस्कार भी थे जिनका मिश्रित प्रतिफलन इनकी कविता में दिखाई पड़ता है। (१) उस युग में देशभक्तिपूर्ण राजभक्ति का प्रचार था। राजभक्ति पैतृक संस्कारों से और भी दृढ़ हो गई थी किन्तु वह देश-भक्ति को दबा न पाई थी। (२) अंग्रेजी राज्य के बुद्धिवादी प्रभावों से सम्मिश्रित वैष्णवता और भक्तिभावना—बुद्धिवाद कुछ निजी था और कुछ युग-प्रभाव से प्राप्त था। वैष्णवता पैतृक थी, वे वल्लभ-कुल के शिष्य थे (तभी तो उन्होंने अपने को कृष्ण का सखा कहा है) और भक्ति पर उनके प्रेमी स्वभाव के कारण कुछ गहरा रंग चढ़ा हुआ था। उनके पितामह और पिता भी परम कृष्ण-भक्त थे। उन्होंने अपने पितामह के सम्बन्ध में लिखा है—

श्री गिरधर गुरु सेइके, घर सेवा पधराइ।
तारे निज कुल जीव सब, हरि पद भक्ति दृढ़ाइ॥

इसके अतिरिक्त भक्तिकाल से चली आती हुई कृष्ण काव्य की परम्परा का भी प्रभाव था ही। (३) जिन्दादिली युग-कालीन तो थी ही (वास्तव में वे युग-निर्माता थे) किन्तु उनके स्वभाव में खेल और विनोद की प्रवृत्ति रक्तगत हो गई थी। (४) हिन्दी प्रेम जो राजा शिवप्रसाद के उर्दू प्रेम की प्रतिक्रिया में कुछ गहरा हो गया था, यह देश-भक्ति का ही अंग था। तब साहित्य की सृष्टि के लिए हिन्दी का पक्ष आवश्यक भी था। (५) समाज-सुधार—यह भी देश-भक्ति का ही अंग था। देश-भक्ति में उन्होंने अंग्रेजी राज की ही बुराई नहीं की वरन् अपने सामाजिक रोगों की ओर भी दृष्टिपात किया है और उनके दूर करने के लिए वे प्रयत्नशील रहे हैं, तभी तो वे राधा रानी के गुलाम होते हुए भी छुआछूत के विरोधी और समाज-सुधारक बन सके थे। (६) देश-भक्ति के नाते उनकी प्रवृत्ति जनसाहित्य की ओर हुई। उनके साहित्य में नाटकों के बाहुल्य का एक यह भी कारण है। (७) यद्यपि भारतेन्दुजी उर्दू के विरोधी थे तथापि उसका भी प्रभाव उन पर था और उसके कारण उनके प्रेम में वेदना और कसक की मात्रा कुछ बढ़ गई थी।

इस प्रकार भारतेन्दुजी की चार मूल-प्रवृत्तियाँ देखते हैं। (क) साहित्य का जन-समाज से सम्पर्क, (ख) प्रेम और भक्ति जो रीतिकाल और भक्तिकाल की मिश्रित प्रवृत्ति थी और जो निजी स्वभाव और पैतृक संस्कारों से पुष्ट हुई थी किन्तु उनकी वैष्णवता बुद्धिवाद से खाली न थी। (ग) देश-भक्ति प्रेरित

राज भक्ति (घ) हास्य-व्यंग्य के सहारे चलने वाला समाज-सुधार।

ग्रन्थ—भारतेन्दुजी की प्रतिभा बहुमुखी थी, इसलिए उनके ग्रन्थों की संख्या भी बढ़ी हुई है। पैंतीस वर्ष की अवस्था में वे जितना कार्य कर सके उतना साधारण मनुष्य नहीं कर सकते हैं। वे कवि, नाटककार, इतिहासज्ञ और निबन्धकार इन चार रूपों में हमारे सामने आते हैं। भारतेन्दु बाबू ने चौदह नाटक लिखे हैं, जिनमें पाँच अनुवादित और शेष नौ मौलिक हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—(१) विद्या सुन्दर (बंगला से अनुवादित), (२) पाखण्ड विडम्बन (प्रबोध चन्द्रोदय के एक अंश का अनुवाद), (३) धनञ्जय-विजय (संस्कृत से अनुवादित), (४), कर्पूर मञ्जरी (राज शेखर के प्राकृत नाटक से अनुवादित), (५) मुद्राराक्षस (यह विशाखदत्त के संस्कृत नाटक से अनुवादित है), (६) वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति (७) सत्य हरिश्चन्द्र (८) श्री चन्द्रावली (६) विषस्य विषमौषधम् (१०) भारत दुर्दशा (११) नीलदेवी (१२) अन्धेर नगरी (१३) प्रेम योगिनी (१४) सती प्रताप। भारतेन्दुजी ने काश्मीर, उदयपुर आदि के छोटे-पूरे इतिहास भी लिखे। इनकी कविताओं का संग्रह भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग दो में निकल गया है। उसमें नवीन भक्तमाल, गीत-गोविन्द का अनुवाद आदि छोटे छोटे ग्रन्थ भी हैं।

काव्य-समीक्षा—कवि के लिए जो गुण, निरीक्षण-शक्ति, कल्पना, व्यापक सहानुभूति तथा तीव्र अनुभूति और

कुशल अभिव्यक्ति अपेक्षित हैं वे सब गुण उनमें विद्यमान थे। उनकी कविता कविता के लिए न थी, वरन् हृदय-प्रेरित थी। कृष्ण-भक्ति और देश-भक्ति ने उनके भाव-पक्ष को बड़ा सबल कर दिया था। पर्यटन के विस्तृत अनुभव ने उनके काव्य के क्षेत्र को बड़ा विस्तृत बना दिया था। उनकी निरीक्षण-शक्ति एवं वर्णन-शक्ति का परिचय हम को उनके नाटकों में मिल जाता है। उनकी कविता के जन-समाज के साथ सम्पर्क के विषय में हम शैली के सम्बन्ध में कहेंगे। उनके नाटकों में तथा उनके काव्य में उनकी उपर्युक्त तीनों मूल प्रवृत्तियों की प्रेरणा परिलक्षित होती है—हम उनके काव्य का इन प्रवृत्तियों के अनुकूल विवेचन करेंगे। वैसे यह विवेचन विभिन्न रसों के अनुकूल भी हो सकता है। भारतेन्दु के काव्य में काव्य की आत्मा 'रस' का अच्छा परिपाक है। वैसे तो उनके सत्य हरिश्चन्द्र में सभी रस आ गये हैं और अन्यत्र भी दूसरे रसों का अच्छा परिपाक है किन्तु उनमें शृङ्गार, भक्ति या शान्त रस और हास्य का प्राधान्य है। वीर और करुण भी यथास्थान आये हैं।

प्रेम और भक्ति—प्रेम और भक्ति का सबसे अच्छा उदाहरण उनकी चन्द्रावली है। उसमें अष्टछाप की ही वाणी प्रतिध्वनित नहीं हो रही है वरन् उसमें उनके हृदय की भी छाया है। उसमें भक्ति आश्रित शृङ्गार का विशेषकर वियोग का पूर्ण परिपाक हुआ है। वियोग की सभी दशाओं का उसमें वर्णन है। तुलसी के राम की भाँति। विरहोन्माद में चन्द्रावली भी पूछती

फिरती है:—

अहो कदंब, अहो अंब-निंब, अहो बकुल-तमाला।
तुम देख्यौ कहुँ मन मोहन सुन्दर नँदलाला॥
अहो कुंज बन लता विरुध तृन पूछत तोसों।
तुम देखे कहुँ श्याम मनोहर कहहु न मोसों॥

वह अपने विरह में प्रत्येक वस्तु से सहायता की प्रार्थना करती है, डूबते को तिनके का सहारा।

अरे पौन सुख-भौन सबै थल गौन तुम्हारो।
क्यों न कहौ राधिका रौन सों मौन निवारो॥

* * * *

हे सारस! तुम नीके बिछुरन वेदन जानौ।
सो क्यों पीतम सों नहिं मेरी दसा बखानौ॥

उद्दीपन का भी सादृश्य के सहारे बड़ा मार्मिक वर्णन हुआ है, उसमें स्मरण अलङ्कार की ध्वनि भी मिश्रित है।

देखि घनस्याम घनस्याम की सुरति करि
जिय में बिरह छटा घहरि-घहरि उठै।

* * * *

देखि देखि दामिन की दुगुन दमक पीत,
पट छोरे मेरे हिय फहर-फहरि उठै॥

विरह की जड़ता और उन्माद दशा का चित्रण देखिए:—

छरी सी छकी सी जड़ भई सी जकी सी घर,
हारी सी बिकी सी सो तो सब ही घरी रहै।

बोले तें न बोलै दृग खोलै ना हिंडोले बैठि,
एकटक देखै सो खिलौना सी धरी रहै॥
हरीचंद औरौ घबरात समुझाएँ हाय,
हिचकि हिचकि रोवै जीवति मरी रहै।

काव्य-शास्त्र में मरण को विरह की अन्तिम दशा माना है किन्तु वास्तविक मरण का वर्णन नहीं होता। हरिश्चन्द्रजी ने भी 'जीवति मरी रहै' कहकर वास्तविक मरण को बचा दिया है।

हरिश्चन्द्र के काव्य में यत्र-तत्र सर्वत्र प्रेम के वर्णन भरे पड़े हैं। विद्यासुन्दर और कर्पूरमञ्जरी में भी शृङ्गार का अच्छा परिपाक है किन्तु वे अनुवाद-ग्रन्थ हैं। शुद्ध प्रेम के वर्णन बड़े सुन्दर हैं, देखिए:—

जिह लहि फिर कछु लहन की आस न चित में होय।
जयति जगत पावन करन प्रेम बरन यह दोय॥
काम क्रोध भय लोभ यह सबन करत लय जौन।
महा मोह हू सों परे प्रेम भाखियत तौन॥

हरिश्चन्द्र भक्ति-भावना में वल्लभ कुल में दीक्षित थे 'हम तो श्री वल्लभ ही को जानैं। सेवत वल्लभ पद-पंकज को वल्लभ ही ध्यावैं। इन पर अष्टछाप के कवियों की पूरी-पूरी छाप है। उनकी सी ही अभिलाषाएँ उनके हृदय में उठी हैं, देखिए—

अहो हरि वेहू दिन कब ऐहैं।
जा दिन में तजि और संग सब हम ब्रज बास बसैहैं॥
संग करत नित हरिभक्तिन को हम नेकहु न अघैहैं।

सुनत श्रवन हरि कथा सुधारस महामत्त ह्वै जैहैं ।।
कब इन दोउ नैनन सों निसि दिन नीर निरंतर बहिहैं ।
हरीचंद श्री राधे राधे कृष्ण कृष्ण कब कहिहैं ।।

*　　　*　　　*　　　*

व्रज की लता पता मोहिं कीजै ।
गोपी पद-पंकज पावन की रज जामें सिर भीजै ।।

हरिश्चन्द्र की भक्ति में दोषों की स्वीकृति, पश्चात्ताप, आर्त्तता और अक्खड़पन सभी कुछ है । भक्ति सम्बन्धी एक बङ्गाली पद में उनकी आर्त्तता देखिए :—

आमार जै दशा नाथ आसिया है देख ना ।
हरिश्चन्द्र नाथ जार, केन हेन दशा तार,
बल ओहे गुन-मनि आमार है वलो ना
सदा मन उचाटन, दहिते छे जीवन धन,
असह्य चन्द्रिका जीवो सहे ना यातना ।।

शान्त रस में जो वैराग्य, तृष्णा-क्षय की अभिलाषा तथा भगवत्कृपा की एकाश्रयता वाञ्छनीय है, उन सब भावनाओं की अभिव्यक्ति हरिश्चन्द्र के काव्य में मिलती है ।

मिटत नहिं या तन के अभिलाख ।
पुजवत एक जबै विधि तनतैं होत और तन लाख ।।
दिन प्रति एक मनोरथ बाढ़त तृष्णा उठत अपार ।।
जोग ज्ञान जप तीरथ आदिक साधन ते नहिं जात ।
हरीचन्द बिन कृष्ण कृपा रस पाए नाहिन अघात ।।

अन्तिम पंक्ति में कृष्ण के अनुग्रह की पुष्टिमार्गी भावना ही चाह पूर्णतया पुष्ट हो रही है।

नीचे के सवैये में मार्मिक वेदना के साथ, अपने पापों की आत्म-स्वीकृति करते हुए भगवान् से अन्त समय में अपनाये जाने की जो प्रार्थना की है वह बड़ी मार्मिक है। उसमें जो लोक-व्यवहार की दुहाई है उसमें उनकी दीनता और आर्त्तता द्रवित हो रही है।

आजुलौं जो न मिले तो कहा,
हम तो तुमरे सब भाँति कहावैं।
मेरे उराहनो है कछु नाँहि,
सबै फल आपने भाग कौ पावैं।
जो हरिचन्द भई सो भई,
अब प्रान चले चहैं तासौं सुनावैं।
प्यारे जू है जग की यह रीति,
बिदा के समै सब कंठ लगावैं।

हरिश्चन्द्र की भक्ति-भावना अनन्य होते हुए भी उदार थी। कबीर हिन्दू-मुसलमानों की एकता कराने में प्रयत्नशील रहे। तुलसी ने वैष्णव शैवों की एकता कराने का उद्योग किया, उसी तरह ये वैष्णव, जैनों तथा हिन्दू-मुसलमानों में प्रेम भाव स्थापना के लिए उत्सुक थे। उन्होंने 'जै-जै पद्मावति महारानी,' 'जय जय जयति ऋषभ भगवान', तथा जैन धर्म सम्बन्धी और पद लिख कर 'न गच्छेत् जैनमंदिरं हस्तिना पीड्यमानोऽपि' का निषेध

किया। उन्होंने अपने भगवान् को बहुरूपिया बतलाया, जो जब जैसा अवसर पड़ता है वैसा रूप धारण कर लेता है—'जब जब जैसो काम परै तब तैसो भेख करौं। कहुँ ईश्वर कहुँ बनत अनीश्वर नाम अनेक धरौं' सच्ची राष्ट्रीयता में भेद-भाव और धार्मिक कट्टरता नहीं रह सकती है। भारतेन्दुजी धर्म के नाम पर एक दूसरे को नीचा दिखाना बहुत बुरा समझते थे। इस प्रकार के धर्म की उन्होंने घोर निन्दा की है :—

धरम सब प्रकट्यो याही बीच।
अपनी आप आप प्रशंसा करनी, दूजेन कहनौ नीच॥
यहै बात सबने सीखी है का वैदिक का जैन।
अपनी-अपनी ओर खीचिबो एक लैन नहिं दैन॥

हरिश्चन्द्रजी तो पूरे समता-भाव के उपासक थे। प्रेमी-हृदय काले गोरे और मन्दिर मसजिद में अन्तर नहीं कर सकता है। देखिए:—

कुछ भले बुरे में फर्क न जी से रक्खे।
काले गोरे का एक रंग बस सूझे॥
दुश्मन को दोस्त को एक नजर से देखे।
मैखाना मसजिद मन्दिर एकहि समझे॥
दो की गिनती भूलै न जबाँ पर लावे।
अपने को खोए तब अपने को पावे॥

यह हिन्दुस्तानी का भी बहुत अच्छा उदाहरण है।

देशभक्ति और राजभक्ति—देशभक्ति हरिश्चन्द्र के काव्य का

प्रधान स्वर है। उनकी शृङ्गारिक रचनाओं के अन्त में देशभक्ति का पुट आ गया है। उनके नाटकों के भरत-वाक्य देश-भक्ति और भारतीयता के गौरव से भरपूर हैं। देखिए कर्पूर-मंजरी का भरत-वाक्य—

उन्नत चित ह्वै आर्य परस्पर प्रीति बढ़ावैं।
कपट नेह तजि सहज सत्य व्योहार चलावैं॥
जवन संसरग जात दोसगन इनसों छूटैं।
सबै सुपथ पथ चलै नितहि सुख सम्पति लूटैं॥

इस प्रकार सत्यहरिश्चन्द्र का भरत-वाक्य है:—

खलगनन सों सज्जन दुखी मत होइ हरिपद रति रहै।
उपधर्म छूटैं सत्व निज भारत गहै, कर दुख बहै॥
बुध तजहिं मत्सर, नारि नर सम होहिं, सब जग सुख लहै।
तजि ग्राम-कविता सुकवि जन की अमृत बानी सब कहै॥

इन भरत-वाक्यों की यह विशेषता है कि इनमें हरिभक्ति, देशभक्ति, विश्व प्रेम (क्योंकि कभी-कभी देशभक्ति विश्व प्रेम में बाधक होती है) सदाचार और नागरिकता सभी का समावेश रहता है। उनकी देश-भक्ति हमको विशेष रूप में भारत-दुर्दशा और नीलदेवी में दिखाई देती है।

वीर-गाथा-काल में तो राष्ट्रीयता का अभाव ही रहा। उस समय तो छोटे राज्य ही राष्ट्र थे। भूषण के समय में राष्ट्रीयता की भावना हिन्दुत्व का पर्याय बनी। भारत-दुर्दशा नाटक में हमको कुछ-कुछ राष्ट्रीयता के दर्शन होते हैं। बङ्गाली और

महाराष्ट्र और देशी लोग सब भारत की दशा पर विचार करते हैं। भारतेन्दु भी हिन्दुत्व से ऊँचे नहीं उठे मालूम देते किन्तु फिर भी हिन्दी हिन्दू के साथ हिन्दुस्तान की भी उन्होंने दुहाई दी है। भारत-दुर्दशा में भारत के प्राचीन गौरव का गुण-गान, उसके रोग का निदान और क्षीण आशा की झलक मिलती है। आशा और निर्लज्जता उसे मरने नहीं देती फिर भी उसके अन्त में एक निराशा की ध्वनि झंकृत होती रहती है। यह निराशावाद देशहित से प्रेरित है। यह अकर्मण्यता का प्रोत्साहक नहीं है, वरन् भारतेन्दु के हृदय की वेदना का द्योतक है।

नीलदेवी में रमणी-वीरता और स्वातन्त्र्य की गूँज है। डाक्टर श्यामसुन्दरदासजी ने नीलदेवी के गायिका बनकर बदला लेने पर आपत्ति की है किन्तु इसमें हम उनके साथ सहमत नहीं हैं, पद्मावती ने भी तो ऐसे ही छल से काम लिया था।

: १० :

राष्ट्र-प्रेरणा के भक्त कवि मैथिलीशरण गुप्त

परिचय—मैथिलीशरण गुप्त झाँसी के पास चिरगाँव के निवासी हैं। संवत् १६४३ में आपका जन्म हुआ। चिरगाँव एक छोटा-सा गाँव है। गुप्तजी में व्यक्तित्व की दृष्टि से मनोरम ग्रामीण नागरिकता मिलती है।

द्विवेदी-युग—मैथिलीशरण गुप्त आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी को अपना गुरु मानते हैं। वे यथार्थ में द्विवेदी-युग की देन हैं। यद्यपि द्विवेदीजी 'सरस्वती' में सम्पादक के पद पर 'सरस्वती' के आरम्भ से ही नहीं आये थे, फिर भी सन् १६०० से द्विवेदी-युग का आरम्भ मान सकते हैं। सन् १६०० में ही सरस्वती का पहला अङ्क प्रकाशित हुआ। इतिहास की दृष्टि से साहित्य में द्विवेदी-युग जितने समय तक चला उतने समय में भारत में और भारत से बाहर संसार में कई बड़ी-बड़ी घटनाएँ घटित हुई। संसार का प्रथम महायुद्ध इसी युग में हुआ। कांग्रेस में गाँधीजी के प्रभाव का चरम उत्कर्ष भी इसी युग में हुआ। सामाजिक क्षेत्र में आर्य-समाज द्वारा प्रेरित बुद्धिवाद और सुधारवाद भी प्रबलतापूर्वक जन-समाज में व्याप्त होने लगे थे। इसी कारण राष्ट्रीय चेतना का महोदय, सङ्कल्पों के लिए क्रियात्मक संघर्ष, समाज और धर्म के सम्बन्ध में नव-जागरण और

पुनर्निर्माण की लहरें इस युग में उठ रही थीं। इन सबके बीज वही थे जो भारतेन्दु युग में बोये जाकर अंकुरित हो चुके थे। इस युग में उनका रूप और निखरा, उनमें क्रियात्मक शक्ति आई। इन समस्त उद्योगों का लक्ष्य राष्ट्रवाद था। फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति ने यूरोप में जिन सिद्धान्तों की घोषणा की थी, राष्ट्रीयता, समानता तथा भ्रातृता (Nationality, Equality and Fraternity), वे भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल पड़े और उनसे भारतीय राष्ट्रीय प्रेरणा को विशेष प्रोत्साहन मिला, अतः समस्त उद्योग राष्ट्र-कर्म की ओर प्रधावित होने लगे। धार्मिक और सामाजिक उद्योगों का रूप भी राष्ट्रवादी ही था। इसी युग में यह कल्पना की गई कि भारतीय राष्ट्र की रूप-रेखा क्या होगी? इसी युग में यह भी निश्चय हुआ कि राष्ट्र की स्वतन्त्रता का युद्ध किन साधनों से होगा? अतः भारतीय इतिहास में द्विवेदी-युग नव-युग की वास्तविक आधार-शिला माना जायगा। इस युग के आदर्शों ने साहित्य को प्रभावित किया। भारतेन्दु-युग में भारत के प्राचीन गौरव के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करने का उद्योग हुआ, वह युग भारत के हीनता-भाव को दूर करने के संघर्ष का युग था। द्विवेदी-युग में प्राचीन भारत की विविध संस्थाओं की ऐतिहासिक मनन के आधार पर, रूप-रेखा प्रस्तुत की गई। यह युग मात्र अध्ययन का ही युग नहीं रहा, मनन का भी युग रहा। इससे साहित्यकार की दृष्टि में व्यापकता और उदारता आई। पाश्चात्य साहित्य का पूरा प्रभाव भी इसी

युग में भारतीय साहित्यकार के मन और मस्तिष्क पर जमा था। फलतः इस युग में निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ मिलती हैं :—

एक—आदर्श-कल्पना की ओर प्रवृत्ति—गाँधीवाद का प्रभाव

दो—राष्ट्रवाद में समस्त उद्योगों का समर्पण

तीन—आस्तिकता-समन्वित बुद्धिवाद

चार—मर्माहत-पीड़ा, फलतः करुणा

पाँच—उपेक्षितों की ओर सहानुभूति

छः—विदेशी प्रतिभा का समादर तथा प्रभाव

सात—व्यवस्था और सुरुचि। यथार्थतः ये युग-प्रवृत्तियाँ थीं जिनकी साहित्य में अभिव्यक्ति के कई अनोखे रूप बने।

साहित्य में प्रवृत्तियां—आदर्श कल्पना की प्रवृत्ति ने भारतीय प्राचीन इतिहास, संस्कृति और सभ्यता को अध्ययन और मनन करने के लिए प्रवृत्त किया, फलतः साहित्यकार की लेखनी से प्राचीन भारतीय इतिहास की सामग्री और विषय प्रकट होने लगे। राष्ट्रवाद की प्रवृत्ति स्वयं ही इस काल के कवि के लिए प्रेरणा थी। कवि आज मात्र-धर्म अथवा समाज के सीमित क्षेत्र को छोड़ कर राष्ट्र की कल्पना से ही इतिहास, संस्कृति और सभ्यता का अर्थ-निरूपण करने लगे। इन दोनों ने साहित्य की शैली को प्रभावित किया। विवरण और प्रबन्ध-बंध के साथ भाव- Sentiments) मयी शैली प्रचलित हो गई। बुद्धिवाद ने समस्त विषयों में एक नई दृष्टि प्रदान की, दो उद्योग हुए—एक अन्ध-विश्वास और जर्जर रूढ़ियों का खण्डन और बहिष्कार,

दूसरे उन विश्वासों और रूढ़ियों की मूल-वृत्ति को समझ कर उनकी बुद्धि-सम्मत व्याख्या, उनके लिए नवीन चेतना के अनुरूप दार्शनिक आधार की शोध। फलतः साहित्यकार का यह आवश्यक कर्म हो गया कि वह जो विवरण दे उसको व्याख्यान के साथ उपस्थित करे। भारतीय जीवन के समस्त आधारों की नई वैज्ञानिक व्यवस्था के साथ साहित्यकार और विचारक उपस्थित करने लगे। गाँधीजी ने इस दिशा में घोर प्रयत्न किया, और उनकी ही विचार-प्रणाली ने इस काल के विचारकों को आक्रान्त कर डाला। किन्तु यह बुद्धिवाद शुद्ध बुद्धिवाद नहीं था। यह बुद्धिवाद श्रद्धा और विश्वास से अभिमंडित था। बुद्धिवाद की दिशा अभी आस्तिक थी। यही कारण है कि साहित्यकार में समस्त युक्तिमत्ता और बुद्धि-प्रयोग के मूल से अन्त तक एक श्रद्धा और विश्वास व्याप्त मिलता है। साहित्यकार पहले किसी दर्शन से मुग्ध हुआ है, फिर उसकी व्याख्या—बौद्धिक व्याख्या की है। मर्माहत-पीड़ा-साहित्य का साधारण धर्म रहा है, इसी ने उसे विलास से हटाकर शौर्य की ओर अग्रसर किया है। इसी ने उसे उपेक्षितों की ओर आकृष्ट किया, जिससे साहित्य में नये पात्र और पात्रियाँ अपने घने आवरणों के पीछे से बाहर निकल आये। विदेशी प्रतिभाओं का समादर उनके अनुवादों से ही प्रकट नहीं होता, वह उस दृष्टि से भी व्यक्त होता है जो शैली में मिलने वाले नये-नये प्रयोगों में व्याप्त है। प्रकृति को उद्दीपन के क्षेत्र से निकाल कर आलंबन बना देना, इस प्रभाव का एक

लक्षण है 'व्यवस्था और सुरुचि' ने भाषा और भावों के परिमार्जन और परिष्कार को प्रोत्साहन दिया। ब्रज-भाषा और खड़ीबोली के द्वन्द्व में खड़ीबोली का विजयनाद युग की इसी मूल-प्रवृत्ति के कारण संभव हुआ। भारतेन्दु-युग से द्विवेदी-युग में जो एक महान् परिवर्त्तन हुआ वह यह था कि पद्ययुग से वह युग गद्य का हो गया। भारतेन्दु पद्ययुग था, द्विवेदी-युग गद्ययुग हो गया, फलतः खड़ीबोली प्रधान हो गई। काव्य पर भी इस गद्य-युग का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

गुप्तजी में हमें इन सभी प्रवृत्तियों की समयानुकूल अभिव्यक्ति मिलती है।

गुप्तजी के ग्रन्थ—गुप्तजी ने अनेकों ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें से प्रधान और प्रभावशाली ये हैं:- १ भारत-भारती, २ जयद्रथवध, ३ अनघ, ४ त्रिपथगा, ५ गुरुकुल, ६ पञ्चवटी, ७ साकेत, ८ यशोधरा, ९ द्वापर, १० नहुष ११ सिद्धराज, १२ कुणाल-गीत, १३ काबा-कर्बला १४ अर्जन और विसर्जन,

'भारत-भारती' का आदर्श कवि ने स्वयं लिखा है:

"हम कौन थे, क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी,
आओ विचारें आज मिल कर ये समस्याएं सभी।"

इसी के अनुसार भारत-भारती में भूतकालीन भारतीय गौरव की ओजमय ऐतिहासिक झाँकी मिलती है, वर्त्तमान की हतप्रभ अवस्था का करुण चित्र और भावी निर्माण की एक कल्पना। 'भारत-भारती' ने ही गुप्तजी को कवियों में प्रमुख-स्थान दिलाया।

राष्ट्रीय-चेतना की उत्तुङ्ग लहर के साथ 'भारत-भारती' जन-जन का कण्ठहार होगई। भगवान् भारतवर्ष में गूँजे हमारी भारती' यह प्रार्थना इस कवि ने की थी, और वह यथार्थ में स्वीकृत हुई।

'जयद्रथ-वध' में महाभारत से कथानक लेकर कृष्ण-अर्जुन-अभिमन्यु-दुर्योधन जयद्रथ का एक आंशिक वृत्त दिया था। 'अनघ' बोधिसत्व अर्थात् बुद्ध के पूर्व-जन्म की कथा है। 'त्रिपथगा' में पांडवों के तीन मार्मिक चित्र हैं। गुरुकुल में सिक्ख गुरुओं का वर्णन है, 'पंचवटी' में रामचरित का एक अंश है, जो आगे चल कर 'साकेत' में संपूर्णता से प्रतिपादित हुआ है, 'यशोधरा' स्वयं बुद्ध-जीवन की कहानी है, 'द्वापर' कृष्ण-चरित्र की विविध झाँकियाँ हैं। 'नहुष' में एक और प्राचीन भारतीय महापुरुष के स्वर्ग से भ्रष्ट होने तथा मानव गौरव की कथा है। 'कुणाल-गीत' सम्राट् अशोक के पुत्र के त्यागपूर्ण जीवन के भावमय दृश्य देता है। काबा-कर्बला में मुस्लिम संस्कृति के मूल सिद्धान्तों की उदार व्याख्या है। इस में हुसेन और उनके परिवार के बलिदान की करुण कथा है। 'झंकार' का नामोल्लेख भी आवश्यक है। इसमें कवि की भक्ति-विह्वल अनुभूतियाँ गीत बनकर प्रकट हुई हैं। अर्जन-विसर्जन में ईसाई संस्कृति की महत्ता है।

गुप्तजी के काव्य के विषय—गुप्तजी के ग्रन्थों पर उपर्युक्त सरसरी दृष्टि से भी विचार करने से यह विदित हो जाता है कि गुप्तजी ने विषयों के संकलन करने में ऐतिहासिक दृष्टि को प्राधान्य दिया है। 'भारत-भारती' में उन्होंने भारतीय इतिहास के सब

पृष्ठों और अध्यायों पर विहंगम दृष्टि डाली। आगे उसमें विशेष स्थलों को चुनकर उन्हें अपने काव्य का विषय बनाया। गुप्तजी की दृष्टि में 'इतिहास' का वही अर्थ है जो पुराणकार की दृष्टि में था। राम और कृष्ण के चरित भी उनके लिए उतने ही इतिहास हैं, जितने आज के इतिहास माने जाने वाले वृत्त इतिहास हैं। कवि की दृष्टि पहले महाभारत पर पड़ी है, फिर बुद्ध पर, फिर राम-चरित पर, फिर बुद्ध पर, तब कृष्ण पर। संक्षेप में विषयों में यह क्रम माना जा सकता है—

महाभारत — बुद्ध — राम — बुद्ध — कृष्ण — बुद्ध
| | | | | |
जयद्रथ वध | साकेत | द्वापर |
अनघ यशोधरा कुणाल-गीत

कहीं-कहीं विशेष सामयिक कारणों और प्रेरणाओं से, अथवा दृष्टि के संकोच को विमुक्त करने के लिए इस विषय-क्रम में व्याप्त दृष्टि इधर-उधर भी गई है, जिसके फलस्वरूप सिक्ख और इस्लाम तथा ईसाई धर्म भी काव्य के विषय बने हैं। कारागार ने 'कारा' के रूप में कुछ अभिव्यक्ति पाई है, जो प्रकाश की प्रतीक्षा में है। किन्तु कवि के मस्तिष्क में अब भी 'महाभारत' गूंज रहा है। जेल-जीवन में उसने महाभारत की मूल-कथा भी पद्य में आरम्भ कर दी, जो अभी समाप्त नहीं हो पाई। 'कुणालगीत' के 'निवेदन' में कवि ने कहा है 'महाभारत की आशा तो असम्भव ही दिखाई देती है, परन्तु संभव है 'कारा' के दृश्य कभी पाठकों के सम्मुख उपस्थित हो जायँ।'

विषयों में सामयिकता—भारतीय राष्ट्रीय चेतना के विकास की कई अवस्थाएँ रही हैं, और वे गुप्तजी के विषय-चयन और प्रतिपादन में प्रतिफलित होती रही हैं।

राष्ट्रीय चेतना में पहली स्थिति आत्म-गौरव अनुभव करने की है। यह भारत-भारती में अत्यन्त स्पष्ट है। फिर भारत जन को प्रोत्साहित करने, उनमें वीरता के भाव भरने की आवश्यकता हुई। जयद्रथ-वध में वह अत्यन्त ओज के साथ प्रकट है। राष्ट्रीय आन्दोलन ने सत्य और अहिंसा को अपनाया, और व्यक्ति में व्यक्तिगत कर्मठता और उद्योग की प्रेरणा दी तो गुप्तजी ने बौद्ध मत को ला उपस्थित किया। इस काल में रवीन्द्रनाथ के विश्व-बन्धुत्व का भी उदय हुआ था, इसी कारण अनघ में हमें भारतीय और राष्ट्रीय आत्मा के मिलते हुए भी विश्व मानवता का रूप और मानव के लिए अपील मिलती है। त्रिपथगा में विविध स्थलों पर राजा और प्रजा के रूप और सम्बन्ध की चर्चा हुई है। हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य का सूत्र उस कथानक में है जिसमें युधिष्ठिर ने कहा है 'कौरव और पाण्डव अलग-अलग आपस में सौ और पाँच हैं, पर किसी तीसरे के लिए हम एक सौ पाँच हैं' 'साकेत' में भारत भाग्य-लक्ष्मी का रूप सीता को दे दिया गया है। राम का उद्योग सीता की मुक्ति का उद्योग है। अबतक उपयोगिता और उद्देश्य अत्यन्त स्पष्टतः उनके काव्य में मिलते थे, अब वे अपना हाथ-मुँह कछुए की भाँति सिकोड़ गये। व्यञ्जना की प्रधानता हो गई। यशोधरा में उनके काव्य में उपयोगिता का सन्देश

वाच्य नहीं प्रतीयमान है। साहित्य में उपेक्षिताओं के प्रति उनमें जो करुणा उदय हुई थी वह 'साकेत' में उर्मिला को उभार कर रखने में समर्थ हुई, वही यशोधरा में अपने विशेष गौरव से अभिमण्डित हुई। स्त्री-समस्या यों भी इस युग में सामने आ गई थी। यशोधरा में स्त्री-गौरव के साथ ही त्याग-तप-कर्म का महत्त्व सिद्ध हुआ है। कवि जैसे भारतीय राष्ट्र के बाह्य आन्दोलन के रूप को अङ्कित नहीं कर रहा, उसके आन्तरिक संस्कारों को मूर्त बना कर प्रस्तुत कर रहा है। 'द्वापर' में स्त्रीत्व का मर्म और भी स्पष्ट हुआ है। कृष्ण-चरित्र सम्बन्धी विविध पात्रों की व्याख्या के सहारे क्रान्ति की प्रतिष्ठा और युवकों को प्रोत्साहन का भाव बलवत्तर हुआ है। अब कवि यथार्थतः अन्तर्मुख हो उठा है। वह मानव के उत्थान-पतन के कारण को समझना चाहता है। यह अन्तर्मुखता 'छायावाद' के व्यक्तिवाद का परिणाम है। किन्तु छायावाद प्रेम और सुन्दर तक ही रह गया, कवि 'झङ्कार' में अपनी अनुभूतियों को प्रकट करता हुआ नहुष में इस अर्थ का उद्घाटन करता है कि सफलता से प्राप्त स्वर्ग भी अहङ्कार के मद से त्यागना पड़ता है। नहुष को स्वर्ग से गिरना पड़ा। 'कुणाल-गीत' में धार्मिक उदारता का सन्देश है। और साथ ही दूसरे महायुद्ध के नर-संहार से विरक्ति

अहो! लज्जा के बदले गर्व!
यही विजय है, जन ही जन को किये जा रहा खर्व।

इस प्रकार गुप्तजी के काव्य में समसामयिक प्रेरणाओं का

स्पष्ट अङ्कन होते हुए भी आदर्श मानवीय कल्याण के सूत्रों का प्रतिपादन हुआ है।

इस समस्त सामयिक परिवर्तन में भी गुप्तजी की आत्मा द्विवेदीकालीन ही रही है। द्विवेदी-काल की आत्मा में परिमार्जन संतुलन और धैर्य प्रधान हैं। काव्य में यह इतिवृत्तात्मकता में प्रकट हुई। द्विवेदी-युग के उपरांत के छायावादी युग और प्रगतिवादी तथा क्रान्तिवादी युग के शब्दों का तो उपयोग किया है किन्तु द्विवेदी-युगीन आत्मा से ही उनका अर्थ ग्रहण किया है।

विषयों में प्राण-प्रतिष्ठा—इन विषयों के अन्तर में झाँक कर हमें जिस आत्मा के दर्शन होते हैं, वह विशेषतः युग के बाह्य और अन्तर का मर्म है। समस्त गांधीवाद वैष्णव भावना से ओतप्रोत है। 'वैष्णव जन तो तेने कहिये जे पीर पराई जाणे रे।' युग में करुणा की भावना भी वैष्णवत्व की अन्तः-स्रोतस्विनी के कारण है। गुप्तजी में यह वैष्णवत्व सब दृष्टियों से पूर्ण होकर अभिव्यक्त हुआ है। वैष्णवत्व करुणा का ही दूसरा नाम है, किन्तु जहाँ न्याय का प्रश्न उपस्थित हो वहाँ वह अत्यन्त दृढ़ है। दया, क्षमा और करुणा का मूल्य तो अवश्य ही सबसे महान् है, ये मानवीय विभूतियाँ हैं पर न्याय के बिना इनकी कोई सत्ता नहीं। 'विष्णु' अवतार लेते हैं, 'यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति' तभी, और धर्म के उद्धारार्थ घोर संघर्ष और संहार भी दया और करुणा की प्रेरणा से ही होता है। युद्ध धर्म-युद्ध हो सकता है, किन्तु युद्ध कभी साध्य नहीं, वह यथासंभव त्याज्य ही है।

वीर का भूषण विनय है:—

बनो वीर, तुम तनिक विनीत,
बाहर से ही लौट न जावे यह बाहर की जीत।

* * * *

तुमसे जितने लोग डरेंगे,
उतने उलटे यत्न करेंगे।
यहाँ अभय देकर ही सब को हो तुम आप अभीत। (कुणाल-गीत)

वैष्णवीय भावना का मूल 'पोषण' है, पुष्टि है। इस पोषण में न किसी के प्रति घृणा हो सकती है, न प्रतिहिंसा, न क्रोध। गुप्तजी के काव्य के शब्द-शब्द से यही वैष्णवीय भावना विविध रूपों में प्रकट हो रही है। यह वैष्णवीय भावना भारतीय होकर भी विश्व-बन्धुत्व की प्रेरक है, विश्व की वस्तु है। विश्व-बन्धुत्व का प्रतिपादन 'कुणाल-गीत' में कवि ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में किया है:—

मैत्री-करुणा में कल्याण।
विश्व-बन्धुता में ही त्राण॥

देश, काल, गुण, कर्म स्वभाव,
ये शाखाओं के अलगाव।
खा लो तनिक मूल-प्रस्ताव॥

तोलो साधन से परिणाम!
विश्व-बन्धुता में ही त्राण।

आकृति, वर्ण और बहु वेष,

ये सब निज वैचित्र्य विशेष।
डालो अन्तर्दृष्टि निमेष॥
देखो अहा एक ही प्राण।
विश्व-बन्धुता में ही त्राण॥
वाद विनोद बनें प्रत्यक्ष,
रहें विभिन्न हमारे पक्ष।
एक मोक्ष हो सबका लक्ष।
करो उसी की ओर प्रयाण।
विश्व-बन्धुता में ही त्राण॥

विविधता में एकता की भाँति विश्व-बन्धुत्व भी मानव-मानव के धर्म-वर्ण विभेद में व्याप्त है। कवि कहता है कि इसी को महत्व दो, शाखाओं को नहीं—'खा लो तनिक 'मूल-प्रस्ताव'।

कवि ने वैष्णवत्व को साम्प्रदायिक दृष्टि से ग्रहण नहीं किया, उसकी मानवीय भावना की शक्ति के कारण ही उसे लिया है। उन्होंने अवतारों के आदर्शों में भी किञ्चित् अन्तर किया है। भारतीय धर्म-प्राण जन की दृष्टि सदा मोक्ष या पर-लोक पर लगी रहती थी, इस कवि ने राम के द्वारा कहलाया है :

'मैं भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।' कोई अपर स्वर्ग है, वहाँ भेजने के लिए राम का अवतार नहीं हुआ। वे इसी भूमि को स्वर्ग बनाने आये हैं।

इस समस्त वैष्णवीय-संस्थान का मूलाधार विश्वास, आस्तिकता और भक्ति है। गुप्तजी में आस्तिकता की प्रबल अनुभूति है, जो वैष्णवीय भावना के साथ काव्य में सर्वत्र व्याप्त है।

हे राम तुम मानव हो, ईश्वर नहीं हो क्या
सब में रमे हुए नहीं, सभी कहीं हो क्या,

कवि ने मानव राम में ईश्वरत्व का जिस रूप में दर्शन किया है, वह सूर की गोपियों के कृष्ण-दर्शन के समकक्ष-जैसा लगता है। किन्तु गोपियाँ कृष्ण के साकार रूप में ब्रह्मत्व की व्याप्ति समझती थीं, उन्हें मानव मानकर, उनके मानव की व्यापकता को ईश्वरत्व नहीं मानती थीं। गुप्तजी की आस्तिकता ने राम को मानव बनाया और उसमें ईश्वरत्व के दर्शन किये। उन्होंने कहा, यदि राम तुम सबमें रमे हुए नहीं हो तो:—

'तो मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे,
तुम न रमो तो मन तुम में रमा करे।

आस्तिकता का यह चरम रूप है। उनकी आस्तिकता तुलसी की भाँति अनन्य तो है, 'राम' में रमी हुई, राम में ही केन्द्रित, किन्तु तुलसी के राम और गुप्तजी के राम एक नहीं। तुलसी राम में दृढ़ता के साथ 'ईश्वरत्व' का आरोप करते हैं, और यही उनकी आस्तिकता का मूल कारण है। गुप्तजी राम को ही मानते हैं, ईश्वरत्व को नहीं, वे राम यदि ईश्वर नहीं तो वे निरीश्वर तक रहने के लिए सन्नद्ध हैं, राम के अतिरिक्त किसी ईश्वर को मानने के लिए वे प्रस्तुत नहीं। वैष्णव भावना में राम 'मर्यादा' के प्रतीक हैं। यह 'मर्यादा' कवि के काव्य का मूलस्वर है। उसने राम और कृष्ण के बीच-बीच में बुद्ध को उपस्थित किया है। किन्तु सबको 'राम' से अनुप्राणित कर दिया है। मानव की

मर्यादित प्रतिष्ठा उसके क्रान्तिमय और आचारमय रूप में उन्होंने कर दी है। कुणाल-गीत में भी उन्होंने नर को नारायण बनने का संदेश दिया है:—

पार उतरना है तो तर,
नारायण हो मेरे नर।

गुप्तजी का प्रवन्ध-विधान—गुप्तजी की समस्त रचनाएँ प्रबन्ध-विधान की दृष्टि से तीन भागों में बाँटी जा सकती हैं; भारत-भारती का प्रबन्ध-विधान विवरणात्मक है। वह विवरण अथवा वर्णनात्मक काव्य है। ऐसे काव्य में वर्णन का क्रम तथा व्यवस्था रहती है। दूसरे विभाग में सुगठित कथा-काव्य आते हैं, जिनके दो भेद खंड-काव्य तथा महाकाव्य होते हैं—जयद्रथवध, सैरन्ध्री, पंचवटी आदि खंडकाव्य हैं। साकेत महाकाव्य है। तीसरे गेय-काव्य हैं, इन गेय काव्यों के दो रूप मिलते हैं—एक में कथा-सूत्र विशेप स्फुट है, दूसरे में कथा-सूत्र क्षीण अथवा रहित, किसी किसी में कोई क्रम ही परिलक्षित होता है।

यशोधरा प्राचीन साहित्य-परम्परा के अनुसार चम्पू कहा जा सकता है, इसमें गद्य-पद्य दोनों का समावेश है। एक और विशेषता है—नाटकीय संवाद भी इसमें कवि ने नियोजित कर दिये हैं।

वास्तविक बात यह है कि कवि ने आरम्भ की कुछ रचनाओं को छोड़ कर सभी में शैली की भिन्नता रखी है। साकेत की शैली यशोधरा से भिन्न है। यशोधरा में सुगठित प्रबन्ध-

कथा तो है, पर गद्य-पद्य के कारण वह महाकाव्य की सुगठित सन्धिमयी योजना के अन्तर्गत नहीं आ सकती। 'महाकाव्य' तो 'साकेत' ही है। 'द्वापर' गेय-काव्य माना जाना चाहिए, इसमें कथा नितान्त स्फुट नहीं, पर उसमें क्रम है। कृष्ण-चरित्र से सम्बन्ध रखने वाले विविध पात्र आत्म-कथन के रूप में अपने चरित्र के मर्म के साथ कृष्ण के रूप की व्याख्या करते हैं। कुणालगीत में कथा-सूत्र अत्यन्त क्षीण हो गया है। यह द्वापर से भिन्न शैली में 'कुणाल' के अपने कथन के रूप में ही है। 'कुणाल' अपने मनोभावों और अनुभूतियों को गेय-शैली में अभिव्यक्त करते चले जाते हैं और उन सब में से कथा-क्रम का बिन्दु मात्र कहीं-कहीं प्रकट होता है। झंकार और मंगलघट स्फुट गेय हैं।

इन सभी प्रबन्ध-कथाओं में एक विकास-क्रम मिलता है। आरम्भ में कवि ने काव्य में वर्णनात्मकता और आवेगी-स्पर्श को प्राधान्य दिया। कथासूत्र अत्यन्त स्थूल और सरल। फिर वर्णनात्मकता की किंचित् कमी, आवेगी-स्पर्श कुछ विशेष, उसमें वाक्-वैदग्ध्य का पुट, कथा संक्षिप्त किन्तु अत्यन्त स्थूल। तीसरी अवस्था में इन सबका पूर्ण समन्वय-वर्णनात्मकता गौण, आवेगी-स्पर्श, वाक्-वैदग्ध्य और कथा का रूप पूर्ण विकसित, विशद तथा जटिल। वक्रोक्ति और भाव-वैदग्ध्य को भी स्थान मिला है। चौथी स्थिति में कथा-सूत्र विशद होते हुए भी गौण होने लगा है। उक्ति और भाव-वैदग्ध्य प्रबल होने लगे हैं,

आवेगी-स्पर्श मध्यम। आवेगी-स्पर्श की कमी काव्य में गेयत्व के समावेश से पूर्ण की गई है।

तीसरी अवस्था गुप्तजी की काव्य-प्रतिभा की एक दिशा का चरम है। इस चरम-स्थल से गुप्तजी के काव्य की दशा बदल जाती है। इस चरम का उदाहरण 'साकेत' है।

इसके बाद कथा-तत्व दुर्बल, और भाव-विदग्धता तथा उक्ति-सौष्ठव बढ़ता जाता है।

शैली में एक और विकास-क्रम मिलता है—

प्रथम अवस्था—वर्णनात्मकता—चित्र-प्रधान

द्वितीय अवस्था—कथात्मकता—(१ घटना-प्रधान, २ चरित्र-प्रधान)

तृतीय अवस्था—गीत्यात्मकता—व्यक्ति-प्रधान—(१ विविध व्यक्ति २ एक व्यक्ति)

कवि ने कल्पनात्मक प्रबन्ध नहीं रखे और यथासम्भव प्रचलित कथानकों को लिया है और उनको यथावत् रखने में सचेष्ट रहा है।

साकेत और उसके बाद के कथानक-काव्यों में कवि ने कथानक की स्थूल रूप-रेखा तो ज्यों की त्यों रखी है। उसमें कुछ आवश्यक परिवर्तन भी किये हैं, कल्पना से नये चित्र भी जोड़े हैं, और उनकी व्याख्या भी की है। उदाहरणार्थ, साकेत में उर्मिला के चरित्र का निरूपण सर्वथैव नई वस्तु है। किसी भी प्राचीन कथा में उसका उल्लेख नहीं है। उसी चरित्र की रचा

की दृष्टि से उर्मिला की सैन्य सजाकर लंका के लिए प्रयाण की तैयारी और फिर वशिष्ठ द्वारा अन्तर्दृष्टि से लंका का समस्त वृत्त देखना—ये सब नये योग कवि ने जुटाये हैं। नहुष-चरित्र का वर्णन इस व्याख्या के लिए हुआ है—

चलना मुझे है, बस अन्त तक चलना
गिरना ही मुख्य नहीं, मुख्य है सँभलना
फिर भी उठूँगा और बढ़ के रहूँगा में
नर हूँ, पुरुष हूँ, चढ़ के रहूँगा में।

विषयों में संवेदना—साकेत और उसके बाद के काव्य यथार्थ में संवेदना-काव्य हैं। कवि के हृदय में उपेक्षितों के प्रति करुणा उत्पन्न हुई है और फलतः उर्मिला, यशोधरा, विधृता आदि पात्रों की सृष्टि हुई है। इन उपेक्षिताओं की ओर सबसे पहले पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी ने 'सरस्वती' में एक लेख लिख कर ध्यान आकर्षित किया था। गुप्तजी द्विवेदीजी को गुरु मानते हैं, उन्हीं की प्रेरणा ग्रहण कर साकेत महाकाव्य रचा गया, तभी यशोधरा और विधृता आदि पर उनकी दृष्टि गई। 'साकेत' में कैकेयी का चित्रण भी उसी संवेदना और कवि-उदारता से किया गया है।

हरिऔध और गुप्त जी—गुप्तजी का 'साकेत' उनकी सर्वोत्कृष्ट रचनाओं में है। कुछ विद्वानों का विचार है कि साकेत पर उपाध्यायजी के प्रिय-प्रवास का प्रभाव पड़ा है। उपाध्याय जी का प्रिय-प्रवास कई दृष्टियों से हिंदी में अपना विशेष स्थान रखता

है। वह 'महाकाव्य के रूप में उपस्थित हुआ। खड़ीबोली के काव्य की प्रतिष्ठा के आरम्भ काल में ही ऐसा 'महाकाव्य' एक अत्यन्त सामयिक श्लाघनीय और मौलिक प्रयत्न था। 'खड़ीबोली' की जड़ भी इस से जमी। तत्कालीन आर्य-समाज के प्रभाव तथा जातीय प्रभाव के कारण 'प्रिय-प्रवास' में कृष्ण-चरित्र का निरूपण मानवीय नेता और महापुरुष के रूप में हुआ है। भारतीय अवतारों की इस प्रकार की व्याख्या का यह सबसे पहला विशद प्रयत्न था। यह काव्य प्रधानतः 'रस' परिपाक के लिए लिखा गया। करुण रस था। ऐसा प्रयत्न अभूतपूर्व था, छन्द संस्कृत थे, किन्तु अतुकान्त। यह भी नई प्रणाली थी, जिसे इस महाकाव्य ने इतने विशाल रूप में प्रस्तुत किया। इसमें अद्भुत शैली का प्रयोग था। कथा का आरंभ कृष्ण के ब्रज छोड़ने के समय से होता है। शोक में स्मृति संचारी के रूप में कृष्ण की समस्त विगत कथा का निरूपण हो गया है। यद्यपि यह काव्य कथा-सूत्रावलम्बी है फिर भी विविध गोप-गोपियों, यशोदा, नंद राधा आदि पात्रों ने जो रुदन किया है, उस रुदन में 'आत्म-वक्तव्य' प्रधान रहा है। इन सब मौलिक विशेषताओं के कारण उपाध्यायजी का 'प्रिय-प्रवास' अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसी प्रिय-प्रवास की शैली की छाया गुप्तजी के साकेत में बतलाई जाती है। प्रधान साम्य ये हैं:—

१ साकेत भी करुण-रस प्रधान है	प्रिय-प्रवास भी,
२ राम के वन जाते समय प्रजा	प्रिय-प्रवास में भी ऐसा

द्वारा सत्याग्रह और रथ के आगे धरना दिलाया गया है।	ही दृश्य है, कृष्ण जब गोकुल छोड़ रहे हैं उस समय।
३ राम और लक्ष्मण का, तथा जनकपुरी में उर्मिला सीता आदि के राज्यारोहण की घटना से पूर्व का चरित्र पात्रों के आत्म-वक्तव्यों के द्वारा स्मृति रूप प्रकट कराया गया है।	जैसा प्रिय-प्रवास में सर्वत्र है
४ उर्मिला के वियोग-वर्णन में कवि ने एक पूरा सर्ग 'नवम-सर्ग' लिख डाला है।	ऐसा ही दशम सर्ग में राधा का वियोग-वर्णन प्रिय-प्रवास में हुआ है,

इस प्रकार और भी छोटे-मोटे साम्य हैं। ये सभी साम्य शैलीगत हैं, और सामयिकता के कारण गुप्तजी में स्वतंत्र रूप से भी उत्पन्न हो सकते हैं; यह भी असंभव नहीं है कि उपाध्यायजी का प्रभाव पड़ा हो, फिर भी राम-काव्य-लेखक गुप्तजी पर 'साकेत' लिखते समय माइकेल मधुसूदनदत्त का प्रभाव विशेष था। उनके 'मेघनाथ-वध' महाकाव्य का अनुवाद वे 'मधुप' नाम से कुछ काल पूर्व ही कर चुके थे। इसका यह अभिप्राय नहीं कि गुप्तजी के साकेत में उनका निजी कुछ नहीं। साकेत में गुप्तजी की आत्मा बोलती है। साकेत में बुद्धिवादी युग का प्रभाव अवश्य है किन्तु उससे वंशानुगत भक्ति-भावना

दबी नहीं है। साकेत में संवादों की सजीवता, चरित्रों का वैचि-ध्य, सांस्कृतिक चेतना और कलात्मकता उसको प्रिय-प्रवास से बहुत अंशों में ऊँचा उठा देते हैं।

पात्र-चित्रण—गुप्तजी के काव्य में नारी का चित्रण और व्याख्या अपूर्व हुई है। नारी का ऐसा चित्रण हिन्दी का कोई भी कवि नहीं कर पाया। उनके नारी चरित्रों में मनोवैज्ञानिक मर्म की अच्छी अभिव्यक्ति हुई है। उनकी ये पंक्तियां तो अमर रहेंगी—

अबला जीवन हाय! तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आंखों में पानी॥

प्रायः सभी नारियों का यथार्थ संघर्ष उनकी पति की वृत्ति से है, वे पति की वृत्ति से संघर्ष करती हुई भी उसके मार्ग में बाधा नहीं डालतीं। सभी में एक तेज है जो कलुष को आहत कर देता है। उर्मिला को लक्ष्मण से शिकायत है पर वह उनको केन्द्र बनाकर अपना वियोगी जीवन-यापन करती हुई वीर वधू के जैसा आचरण करती है। यशोधरा में पति के व्यवहार से एक स्वाभिमान भी जाग्रत होता है, वह यह सहन नहीं कर सकती कि स्त्री पुरुष पर इतना संदेह करे कि उससे छिप कर उसे जाना पड़े।

'सखि वे मुझ से कह के जाते'
कह, तो क्या मुझ को वे अपनी पथ-बाधा ही पाते।'

उर्मिला के पास लक्ष्मण की स्मृति के अतिरिक्त और कुछ

भी नहीं, यशोधरा के पास राहुल और है। यशोधरा का वियोग पत्नी-वियोग के साथ वात्सल्य से पग गया है। इस वात्सल्य ने उस करुणा को और उग्र ही किया है। 'द्वापर' में 'विधृता' का मृत्यु पर्व मानते हुए सत्याग्रह अत्यन्त प्रबल है, और 'मानव' के सशंक मन के कलुष को निर्दयतापूर्वक हूल देता है। शेक्स-पीयर की डेसडीमोना ओथेलो की शंका की अग्नि में आहुत तो हुई और ओथेलो की शंका का भयंकर रूप भी ओथेलो के समक्ष रखा, पर वह स्त्रियों और पुरुषों के संबंध की वह निर्मम आलोचना नहीं कर सकी जो विधृता ने की। कैकेयी-चरित्र में मातृत्व का रूप विशेष प्रकट हुआ है। कैकेयी का परंपरा-गत रूप मात्र भर्त्सना और घृणा का रहा है, पर गुप्तजी ने काव्य-प्रतिभा से कैकेयी के पक्ष को भी नैतिक बल दिया है। कैकेयी का अनुताप उसी के योग्य हुआ है, उसका यह कथन उसके परि-ताप को प्रकट करता है:—

'युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी,
रघुकुल में भी थी एक अभागी रानी।

कैकेयी के अपराध से भी उसका पश्चात्ताप महान् हो गया है। 'साकेत' की माण्डवी भी विशेष व्यक्तित्वशीला नारी है। पुरुष-पात्रों का वर्णन भी अच्छा हुआ है।

गुप्तजी और विविध वाद—जिस युग में गुप्तजी ने लिखा है वह विविध वादों के विवाद से संघर्षमय रहा है। वादों की चेतना आरम्भ में 'छायावाद' से हुई। मैथिलीशरण गुप्त

छायावादी सम्प्रदाय के नहीं, पर छायावाद और रहस्यवाद की शैली उन्होंने अवश्य अपनाई है। झंकार में उसकी आध्यात्मिक अनुभूतियां प्रायः उसी शैली और रूप में उद्भूत हुई हैं जिसमें छायावाद या रहस्यवाद की। उनकी 'झंकार' रहस्यवाद का आध्यात्मिक निरूपण है। अपने 'प्रिय' इष्ट देव की विविध मनुहार उसमें मिलती है। इसी काल के लगभग 'कला कला के लिए' की पुकार उठी। इसकलावाद का विरोध गुप्तजी ने हिन्दू नाम के काव्य की भूमिका में किया, और 'साकेत' में भी प्रसंग लाकर उसका उल्लेख किया है। उन्होंने कला को 'जो है अपूर्ण उसी की पूर्ति' बताया है, और जो कला को कला के लिए मानते हैं उन पर यह आरोप किया है कि वे कला को स्वार्थिनी कर देते हैं। अतः वे कला में उपयोगितावाद के समर्थक हैं। पर वे साम्प्रदायिक अर्थ में प्रगतिवादी नहीं हैं। किन्तु सामयिकता के साथ उस समय की समस्याओं से मोर्चा लेते हुए वे सदा आगे बढ़े हैं। वे भौतिकतावादी नहीं, अध्यात्मवादी हैं और प्रत्येक समस्या के लिए हृदय का संस्कार करने के प्रबल पक्षपाती हैं।

विविध सामयिक समस्याएँ—सामयिकता का जितना स्पष्ट पुट इस कवि में है उतना दूसरे आज के कवि में नहीं है। प्रगतिवादियों की सामयिकता सामयिकता के आधार पर नहीं, सिद्धान्त के आधार पर है। गुप्तजी में शुद्ध सामयिक प्रभाव है। गुप्तजी के समय में कई समस्याएँ उठी हैं, उनका

सीधा सम्बन्ध राजनीति से अधिक रहा है।

इस राजनीति के कई पहलू हैं—एक है नई चेतना के अनुसार राजा और प्रजा के सम्बन्धों की उचित स्थापना। गुप्तजी ने राजा-प्रजा के सम्बन्ध में 'त्रिपथगा' में तथा 'साकेत' में प्रकाश डाला है। राजा को प्रजा का हित देखना चाहिए। प्रजा को अधिकार है कि राजा को पदच्युत कर दे।

दूसरी समस्या इस युग में, अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए उद्योग के रूप की रही है। 'अनघ' में सत्य और अहिंसा को साधन बताया गया है, पर आगे के काव्यों में साधनों की ओर कवि का विशेष आग्रह नहीं रहा। यद्यपि कुणाल-गीत में उसने युद्ध और हिंसा की निन्दा की है, किन्तु 'न्याय-अधिकार' के लिए चुप बैठना उसे पसंद नहीं।

हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य की समस्या ने भी उन्हें आकर्षित किया है। वे धार्मिक विभेद को शाखा मानते हैं और वैविध्य को सहन करने के पक्ष में हैं।

नारी की ओर गुप्तजी ने विशेष ध्यान दिया है। नारी को उन्होंने घर और बाहर दोनों ही क्षेत्रों में दिखाया है। उर्मिला का सैन्य-संचालन बाहरी क्षेत्रों में स्त्री की कर्त्तव्यता का उदाहरण है। पर गृह से बाहर कवि ने नारी को विशेष परिस्थिति में ही किया है। साधारणतः उसने नारी को पुरुष से महान् दिखाया है।

इस प्रकार सभी सामयिक समस्याओं पर कवि की रचनाओं में किसी न किसी रूप में प्रकाश पड़ा है।

गुप्तजी का काव्य-कौशल—द्विवेदी-युग में काव्य की परिभाषा छायावादी और प्रगतिवादी युग की परिभाषा से भिन्न थी। 'छायावादी कविता' के विरोध में लेख लिखते हुए द्विवेदीजी ने बतलाया था कि कविता यश-अर्जन के लिए, ख्याति के लिए, धन के लिए लिखी जाती है। इसके लिए उसे बोधगम्य अवश्य होना चाहिए। इस काल में कविता वही मानी जा सकती थी जिसमें रस-परिपाक, अलङ्कार, सौष्ठव, वर्णन-विशदता मिले। इस परिभाषा के अनुरूप गुप्तजी में उच्चकोटि का काव्य-सौष्ठव मिलता है।

वर्णन-वैचित्र्य और विशद चित्र-चित्रण गुप्तजी के सब काव्यों में सर्वत्र इतस्ततः बिखरे हुये हैं—'किसान' की अवस्था का चित्र है—

भूतल तवा-सा जल रहा।
'है चल रहा सन सन पवन, तन से पसीना ढल रहा।
तब भी कृषक मैदान में, करते निरंतर काम हैं।
किस लोभ से वे आज भी लेते नहीं विश्राम हैं॥

ग्रीष्म की दोपहरी का जलता हुआ चित्र कुछ पंक्तियों में ही कैसी भीषणता के साथ में उपस्थित होगया है। 'कर्बला' क्षेत्र का यह दृश्य है:—

'उनके पीछे भरा फरात नदी का जल है,
स्वेद बहाता आप मरुस्थल ताप विकल है!
मरीचिका ही दूर दूर है दृष्टि लुभाती,
किरण किरण है यहाँ कनी की अनी चुभाती।
हू हू करती हुई व्यार भूमल भरती है,
धू धू करती हुई घूमती-सी धरती है!'

साकेत में तो विशद चित्रों की छटा स्थान-स्थान पर मिलती है; इन चित्रों में गति, दृश्य-सौन्दर्य मोहक और अभिराम हैं। लक्ष्मण प्रस्थान को प्रस्तुत हुए, उर्मिला ने प्रणाम किया, और कवि ने यह स्नेप ले लिया—

चूमता था भूमि—तल को अर्ध विधु-सा भाल
बिछ रहे थे प्रेम के दृग-जाल बन कर बाल।
छत्र-सा ऊपर उठा था प्राणपति का हाथ।
हो रही थी प्रकृति अपने आप पूर्ण सनाथ॥

अन्य अनेकों दृश्यों में से अयोध्या का चित्र सुषमा, ज्योति और अभिरामता तथा गति के कारण बड़ा प्रभावशाली बन पड़ा है। यह चित्र उस समय का है जब रात्रि में अयोध्या को जगा कर लंका के लिए प्रस्थान कराने के लिए शत्रुघ्न अट्टालिका पर चढ़ कर शंख बजाना चाहते हैं। शत्रुघ्न देखते हैं:—

नगरी थी निस्तब्ध पड़ी क्षणदा छाया में,
भुला रहे थे स्वप्न हमें अपनी माया में।

* * * * *

पुरी पार्श्व में पड़ी हुई थी सरयू ऐसी,
स्वयं उसी के तीर हंस माला थी जैसी।
झोंके झिलमिल झेल रहे थे दीप गगन के,
खिलखिल, हिलमिल खेल रहे थे दीप गगन के।
तिमिर अंक में जब अशंक तारे पलते थे,
स्नेहपूर्ण पुरंदीप दीप्ति देकर जलते थे

इन सभी चित्रों और वर्णनों की यह विशेषता रहती है कि वे रस की अनुकूलता ही नहीं रखते, उसके उद्दीपक की भाँति भी कार्य करते हैं। दृश्यों के अपने निजी सौन्दर्य को अभिव्यक्त करते हुए, वे रस-परिपाक की उद्दीपक पृष्ठ-भूमि बन गये हैं। कवि ने अपने कौशल से इस प्रकार पाश्चात्य और प्राच्य परिपाटियों का कुशल मिश्रण कर दिया है। पाश्चात्य प्रणाली दृश्य के सौन्दर्य को स्वयं साध्य मानती है प्राच्य प्रणाली उसे रस-परिपाक के लिए विभाव के अन्तर्गत ही स्थान देती है। गुप्तजी के इन चित्रों का स्वयं ही महत्व है, और वे प्रबन्ध—योजना के अंश बन कर उद्दीपन भी हैं। फिर भो रस-परिपाक कवि में प्रधान रहा है, विशेषतः आरम्भिक रचनाओं में। वीर-रस और करुण-रस पर तो कवि का सबसे अधिक अधिकार है। जयद्रथ-वध में आवेगी स्पर्श विशेष स्फुट है, उसने उत्साह को बहुत ही उद्दीप्त कर दिया है, अलंकार के सहारे युद्ध की विकरालता में वीर भाव उग्र हो गया है:—

शररूप-खर-रसना पसारे रिपु रुधिर पीती हुई,
उत्कृष्ट भीषण शब्द करती जान मन चीती हुई।
अर्जुन-करामोत्साहिता प्रत्यक्ष कृत्या-मूर्ति-सी,
करने लगी गाण्डीव-मौर्वी प्रलय—काण्ड—स्फूर्ति-सी।

इस में कवि ने सांगोपांग रूपक से उसी भाँति काम लिया है, जिस भाँति तुलसीदास ऐसे मार्मिक स्थलों पर रामचरितमानस में लेते रहे हैं। कर्बला में एक पक्ष के कठोर आघातों को वीरता-

पूर्वक सहन करते हुए पानीभरी मशक लेकर लौटते हुए अब्बास का यह दृश्य कितने शौर्य से छलक रहा है, पहले तो मशक लेकर जाने का दृश्य है:—

घोड़ा था वह मंत्र झपट जो उसने छोड़ा ?
बादल-सा दल एक ओर का तोड़ा फोड़ा।
कौन खड़ा रह सका झेल वह झौंका तीखा ?
तिनके-से अरिवाण, बवंडर-सा वह दीखा।

किन्तु लौटते समय:—

'करने लगे प्रहार शत्रु उस पर अन्धों से,
क्रम से दोनों हाथ कटे उसके कन्धों से।
शुण्ड हीन गज तुल्य तुण्ड में मशक दबाये,
वह चलता ही रहा मत्त-सा दाँत चबाये।
शोणित-निर्झर इधर उधर देते थे झटके,
पर उस भट के प्राण चर्म घट में घुस अटके,

इस वर्णन में अब्बास के अन्तःकरण का उत्साह प्रतीयमान होता हुआ भी उभरा पड़ा है। यथार्थ में कवि ने वीरता को 'युद्ध' के दाँव-घात में ही सीमित नहीं रखा, उन्होंने उसे भावों में प्रकट किया है। इसी से अहिंसक वीरता भी अत्यन्त ओज और शौर्य-भाव से अभिवेष्टित होकर इस कवि में आई है। 'करुणा' तो उनके बाद के काव्यों का विशेष धर्म रही है। 'साकेत' और 'यशोधरा' में जो 'वियोग' अथवा विरह के रूप प्रतिष्ठित हुए हैं, वे करुणा के ही हैं। वियोग और विरह में उत्ताप

प्रबल रहता है, और लक्ष्य प्रिय का सौन्दर्य और वियुक्त संसर्ग। पति की विलगता शृङ्गार-रस की रति के आधार पर सालती है। करुण में शोक-संवेदना का कारण होता है। उर्मिला और यशोधरा में रति का भाव अत्यन्त गौण हो गया है, अतः विरह भी 'करुणा' में परिणत हो गया है, यह इसलिए और भी हो गया है, कि उर्मिला और यशोधरा दोनों का शोक 'नारी' की समष्टि का शोक हो गया है, उनका विरह उर्मिला और यशोधरा का निजी वियोग-दुख नहीं, वह दुःख है जो नारी-समस्या, नारी के मूल्य और नारी के अपमान पर निर्भर करता है, जिसको देख कर यही उद्गार हो सकता है:—

अबला जीवन हाय ! तुम्हारी यही कहानी,
आंचल में है दूध और नयनों में पानी !'

यह 'हाय !' विरह को विरह नहीं रहने दे सकती। इस करुणा की विशद अभिव्यक्ति गुप्तजी की भाव-भरी लेखनी के द्वारा हुई है। यहाँ भी यही नियम है कि कवि ने करुणा और विरह की विविध मानसिक अनुभूतियों को ही प्रकट किया है। उसने स्थूल कायिक अभिव्यक्ति को उतना गौरव नहीं दिया।

अलंकार-संयोजना पर भी कवि का पूरा अधिकार है, किन्तु कहीं भी उसने अलंकारों का प्रयोग 'अलंकार' के चाव के कारण नहीं किया। सभी अलंकार कवि के वर्ण्य को अधिकाधिक स्पष्ट, तीव्र, सुष्ठु और प्रभावशाली बनाते हैं, यहाँ तक कि शब्दालंकार भी। 'पुनरुक्ति' के चमत्कार से यह वर्णन कैसा

बन पड़ा है:—

लपट से झट रूख जले जले,
नद नदी घट सूख चले चले।
विकल ये मृग मीन मरे मरे,
विफल ये हम दीन भरे भरे।

और भी:—

ढलमल ढलमल चंचल अंचल, झलमल झलमल तारा।

किन्तु अर्थालंकारों से उनकी रचनाएँ जगमगा रही हैं। 'रूपक' और उपमा के तो वे सहज अधिकारी हैं, पर साकेत, यशोधरा तथा बाद के काव्यों में तो और भी विविध अलंकार आये हैं। कहीं-कहीं अवश्य ही वे बोझल हो गये हैं, जैसे नीचे के छन्द में:—

उस रुदन्ती विरहिणी के हृदय रस के लेप से,
और पाकर ताप उस के प्रिय-विरह-विक्षेप से।
वर्ण वर्ण सदैव जिनके हों विभूषण कर्ण के,
क्यों न बनते कवि जनों के ताम्रपत्र सुवर्ण के।

पर ऐसे स्थल बहुत कम हैं। इस में तांबे को सोना बनाने की प्रक्रिया का रूपक है। 'रुदन्ती' औषध है, विरहिणी के श्लेष से इस औषध का उल्लेख करके यह प्रकट किया गया है, कि कवि के काव्य का मूल्य विरह-वर्णन से ही बढ़ता है। उनके ताम्र पत्र (प्रशंसा-पत्र) सोने के हो जाते हैं। सुवर्ण में भी श्लेष है।

काव्य-कौशल में अत्यन्त दक्ष इस कवि पर यह आक्षेप

किया जाता है कि इसमें 'तुक' के लिए विशेष आग्रह मिलता है; और तुकें भी कठिन और विचित्र इस कवि ने जुटा दी हैं। इन में तुकों के प्रयोग जब रसोद्रेक के स्थलों पर होने लगते हैं तब काव्य विरूप हो जाता है। इस आरोप में तथ्य तो है, पर ऐसे स्थल भी गिने चुने हैं, और उनके विशाल काव्य में सहज और समर्थ तथा अनुकूल तुकों में वे नगण्य ही हैं।

उपसंहार—इस समस्त विवेचन से कवि की प्रतिभा का यथार्थ मूल्यांकन किसी सीमा तक हो जाता है। कवि महाकवि है, वह युग का प्रतिनिधि भी है। युग के सभी स्पंदन उसमें यथा-समय प्रतिफलित हुए हैं। इस कवि की सब से विशिष्ट महानता यह है कि इसने 'मानव' गौरव की महिमामय प्रतिष्ठा की है। उसके काव्य में राष्ट्रीयता और भक्ति की समग्र प्रेरणा का मूल मानव और उसका गौरव रहा है। मानव का हृदय और मस्तिष्क किन-किन अवस्थाओं और परिस्थितियों में कैसा हो, उसी को चित्रित करने का उद्योग कवि में सर्वत्र है और अभिनन्दनीय है।

११

नवीन धारा के प्रवर्तक-कवि प्रसाद

मधुप गुन-गुना कर कह जाता कौन कहानी यह अपनी,
मुरझा कर गिर रही पत्तियाँ देखो कितनी आज घनी।
इस गम्भीर अनन्त नीलिमा में असंख्य जीवन इतिहास—
यह लो करते ही रहते हैं, अपना व्यङ्ग्य-मिलन उपहास।

—लहर

जीवन वृत्त—

जन्म—माघ शुक्ला १२ संवत् १९४६,
स्वर्गवास—कार्तिक शुक्ला ११ संवत् १९९४

प्रसादजी का जन्म काशी में 'सुंघनी साहु' के प्रसिद्ध घराने में बाबू शिवरत्न के सुपुत्र बाबू देवीप्रसादजी के यहाँ हुआ। बारह वर्ष की अवस्था में ही उनको अपने पिता की छत्रछाया से वंचित होना पड़ा और साथ ही उनकी स्कूली शिक्षा की भी इतिश्री सातवीं कक्षा से ही हो गई, किन्तु उनके अग्रज शम्भुरत्नजी ने उनकी संस्कृत, अंग्रेज़ी, उर्दू, फ़ारसी शिक्षा का सुप्रबन्ध कर दिया। उन्होंने घर से बाहर की शिक्षा से बहुत कुछ प्राप्त किया था क्योंकि उनको अध्ययन से वास्तविक रुचि थी। पुरातत्व और इतिहास का गम्भीर अध्ययन और अनुसन्धान का शौक

आपकी निजी प्रेरणा से ही हुआ। काशी के पाण्डित्यपूर्ण जीवन का आपने पूरा-पूरा लाभ उठाया। कविता का शौक आपको बाल्यकाल से ही हो गया था क्योंकि काशिराज की भाँति उनका घर भी कवियों, गुणियों और गायकों का आश्रय-स्थान था। वे और उनके पूर्वज सच्चे अर्थ में महादेव (खूब देने वाले) थे। यद्यपि वे आनन्दवादी थे तथापि उनके जीवन में करुणा और वेदना के उपकरणों की कमी न थी। उनका प्रभाव उनके जीवन पर अवश्य रहा किन्तु वे उनसे विचलित न हुए। वैसे भी उन पर उपनिषदों के आनन्दवाद और बौद्धधर्म के दुःखवाद के दोनों ही प्रभाव थे। वे व्यवसाय करते थे किन्तु 'उसमें जल-पत्रामिवाम्भसि' लिप्त नहीं होते थे। उन्होंने जीवन का पूर्ण रुचि के साथ उपभोग किया और यद्यपि वे विलास-वैभव में लिप्त न थे तथापि उस जीवन से वे भली भाँति परिचित थे, तभी वे अपने नाटकों में प्राचीन काल के वैभव को अधिक सफलता के साथ अवतरित करसके। वे अंग्रेजी सभ्यता से परिचित थे किन्तु उनका रहन-सहन पूर्णतया भारतीय था। वे प्रतिभाशाली कवि थे। सायर, सिंह और सपूत की भाँति वे अपना नया मार्ग बनाते थे, पीटी हुई लकीर पर चलना उन्हें पसंद नहीं था। उनकी प्रतिभा साहित्य के सभी क्षेत्रों में चमकी। जिस विषय में उन्होंने हाथ लगाया उसे अलंकृत कर दिया।

ग्रन्थ—कविता—काननकुसुम, चित्राधार (ब्रजभाषा की कविताओं का संग्रह), प्रेम-पथिक, लहर, झरना, आँसू,

कामायनी।

नाटक—सज्जन, करुणालय, विशाख, राज्यश्री, अजातशत्रु, कामना, जनमेजय का नागयज्ञ, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, एक घूँट, ध्रुवस्वामिनी।

उपन्यास—कङ्काल, तितली, इरावती (अपूर्ण)

कहानी-संग्रह—छाया, प्रतिध्वनि, आकाशदीप, आँधी, इन्द्रजाल।

निबन्ध-संग्रह—काव्य और कला।

युग की प्रवृत्ति—द्विवेदी युग संक्रान्ति का युग था। हिन्दी अपनी शैशवावस्था में स्कूली शिक्षा प्राप्त कर रही थी। राष्ट्रीयता के नव जागरण में प्राचीन गौरव-गाथा-गान और कर्तव्य-परायणता की ओर अधिक रुचि थी। इतिवृत्तात्मकता, (जैसे को तैसा लिखना), उस समय की मूल प्रवृत्ति थी। रीतिकाल के उद्दाम शृङ्गार से जी ऊब गया था। इसके अतिरिक्त कर्तव्य-परायणता की धुन में शृङ्गार का बहिष्कार सा हो गया था। शृङ्गार की अश्लीलता से बचने के लिए शृङ्गार का पवित्र रूप भी भुला दिया गया था और भूसी के साथ गेहूँ भी फटक दिया गया था। मैथिलीशरण गुप्त और उपाध्यायजी उस युग के सब से बड़े कवि थे और रवि वर्मा सबसे बड़े चित्रकार।

इस इतिवृत्तात्मकता और उपदेश-परायणता की प्रतिक्रिया हुई। स्थूल को कटी-छँटी सीमा में बँधा न देख कर उसमें एक वायवी सौंदर्य की झलक दिखाई देने लगी। भौतिक में आध्यात्मिक सन्देश की ध्वनि सुनाई पड़ने लगी। झरना के कल-निनाद

में 'बात कुछ छिपी हुई है गहरी' मालूम होने लगी। शृङ्गार का परिष्कार कर उसे अपने प्राचीन पद पर प्रतिष्ठित किया जाने लगा। मानव सौन्दर्य के अतिरिक्त प्राकृतिक सौन्दर्य की ओर भी लोगों का ध्यान गया और उसके शृङ्गार में निरापद प्रेम की व्यञ्जना आरम्भ हुई। उसमें भी मानवी भावों की छाया देखी जाने लगी। मोती की छाया (आब) की भाँति साधारण वस्तुओं में भी एक अलौकिक आभा के दर्शन होने लगे। शृङ्गार और प्रेम से वर्ज्य की भावना दूर करने तथा काव्य में व्यङ्गय का चमत्कार बढ़ाने के लिए प्रतीकों का व्यवहार होने लगा।

उधर स्वदेश-प्रेम तो हरिश्चन्द्र युग से ही जाग्रत हो चला था, उसमें व्यापक मानवता का पुट दिया जाने लगा और स्वतन्त्रता और समता के भावों की प्रतिष्ठा हुई। मानव-गौरव बढ़ा, स्वतन्त्रता जगी (स्वतन्त्रता की भावना ने छन्द में भी अपना सिक्का जमा लिया), अतुकान्त और मुक्त छन्द की सृष्टि हुई। नये-नये अलंकारों का प्रसार हुआ और भाषा की लाक्षणिकता बढ़ी। इधर देश की करुणाजनक परिस्थिति और वैयक्तिक निराशाओं ने दुःखवाद को जन्म दिया। उसके परिहार के लिए भक्ति-काल की भाँति अध्यात्म-प्रधान रहस्यवाद की ओर लोगों की कुछ प्रवृत्ति हुई। इस प्रकार समता, स्वतन्त्रता, दुखवाद, प्रतीकात्मकता, लाक्षणिकता, संगीतात्मकता आदि प्रवृत्तियाँ साहित्य में विकसित होने लगीं। प्रसादजी इन सब प्रवृत्तियों के अग्रदूत थे।

इन सब का आभास हमको उनकी कविता में मिलता है।

सिद्धान्त और विचार

प्रेम—प्रसादजी मूलतः प्रेम और यौवन के कवि हैं किन्तु उनका प्रेम कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रेम की भाँति भक्ति में परिणत होने वाला प्रेम है। उसके दो छोर हैं—एक छोर पृथ्वी पर है तो दूसरा छोर आकाश में है।

उनका पार्थिव प्रेम वाष्पीकृत होकर ऊपर उठ जाता है और निर्मल भक्ति के रूप में प्रकट होता है। आँसू काव्य का यही मूल तत्व है। उस का उदय वैयक्तिक विरह के विषम ताप से होता है। और अन्त में ममत्व-परत्व के द्वन्द्वों से ऊँचा उठकर सुख दुख का मेल कराने वाली मङ्गलमयी विश्व-कल्याण की रस-वृष्टि से होता है।

प्रसादजी दार्शनिक तत्वों के अधिक झगड़ों में नहीं पड़ते किन्तु वे अपने प्रियतम परमात्मा से चिर-मिलन के अभिलाषी रहते हैं। देखिए:—

तुम हो कौन और मैं क्या हूँ
इसमें क्या है धरा सुनो
मानस-जलधि रहे चिर चुम्बित
मेरे क्षितिज उदार बनो।

रहस्यवाद—प्रसादजी का यही ईश्वरोन्मुख प्रेम प्रकृति के प्रेम के साथ मिलकर रहस्यवाद का रूप धारण कर लेता है। उस परमात्मा की सत्ता उनकी प्रकृति के मनोरम दृश्यों में मिलती

है; कहीं तो वह कौतूहल जाग्रत कर एक खोज मात्र रह जाता है और कहीं उसमें उनके प्रियतम पहचाने से किन्तु कुछ लुके-छिपे दिखाई पड़ते हैं। हम दोनों के यहाँ पर एक-एक उदाहरण देंगे।

तृण वीरुध लहलहे हो रहे किसके रस में सिंचे हुए
सिर नीचा कर किसकी सत्ता करते हैं स्वीकार यहाँ
सदा मौन हो प्रवचन करते, जिसका वह अस्तित्व कहाँ?

हे अनन्त रमणीय! कौन तुम? यह मैं कैसे कह सकता।

उनके प्रियतम की आँखमिचौनी भी देखिए:—

निज अलकों के अन्धकार में तुम कैसे छिप आओगे?
इतना सजग कुतूहल! ठहरो, यह न कभी बन पाओगे
आह चूम लूँ जिन चरणों को, चाप चाप कर उन्हें नहीं—
दुख दो इतना, अरे अरुणिमा ऊषा-सी वह उधर वही।

प्रियतम की झलक मिलने के हर्षोल्लास को भी देखिए:—

इस हमारे और प्रिय के मिलन से
स्वर्ग आकर मेदिनी से मिल रहा,

* * *

अन्तरिक्ष विशाल में है मिल रही।
चन्द्रमा पीयूष वर्षा कर रहा
दृष्टि पथ में सृष्टि है आलोकमय
विश्व वैभव से भरा यह धन्य है।

लौकिक प्रेम के लिए भी ऐसा कहा जा सकता है।

बौद्धधर्म का प्रभाव—प्रसादजी बौद्ध धर्म से अधिक प्रभावित

थे, 'अरी वरुणा की शान्त कछार' आदि कविताएँ इसका प्रमाण हैं। उन्होंने बौद्ध धर्म-सम्मत मध्यम मार्ग का पक्ष लिया है—छोड़ कर जीवन के अतिवाद, मध्य पथ से लो सुगति सुधार (यही समन्वय-बुद्धि कामायनी में भी परिलक्षित होती है और वे उस के शून्यवाद को भी अहंकारशून्य एकात्मवाद का ही पर्याय मानते हैं। उनके मत से भगवान् बुद्ध ने आत्मा से इन्कार नहीं किया है वरन् उन्होंने भेद-बुद्धि उत्पन्न करने वाले अहङ्कार का विरोध किया है। वे स्कन्दगुप्त में अपने एक पात्र से कहलाते हैं :—

'अहंकारमूलक आत्मवाद का खण्डन करके गौतम ने विश्वात्मवाद को नष्ट नहीं किया—उपनिषदों के नेति-नेति से ही गौतम का अनात्मवाद पूर्ण है—व्यक्ति रूप से आत्मा के सदृश कुछ नहीं है।'

प्रसादजी अपने नाटकों में अद्वैतवाद की ओर अधिक झुके हैं किन्तु कविता में द्वैतता की झलक आ जाती है।

समन्वयपूर्ण जीवन-मीमांसा—इसी अहङ्कार और ममत्व के त्याग के आधार पर ही वे सुख-दुःख का मेल करा सके हैं

हो उदासीन दोनों से
सुख-दुख से मेल कराएँ
ममता की हानि उठा कर
दो रूठे हुए मनाएँ।

कामायनी में हम को उनके समन्वय-वाद की जीवन-मीमांसा के दर्शन होते हैं। कामायनी में यद्यपि श्रद्धा का प्राधान्य है तथापि बुद्धि

का उचित मूल्य स्वीकार किया गया है। कामायनी अपने कुमार मानव को इड़ा को सौंपते हुए कहती है :—

हे सौम्य ! इड़ा का शुचि दुलार,
हर लेगा तेरा व्यथा भार।
वह तर्कमयी, तू श्रद्धामय
तू मनन शक्ति, कर कर्म अभय॥

प्रसादजी ने कामायनी में ज्ञान-इच्छा क्रिया का समन्वय करा कर त्रिपुरदाह की पौराणिक कथा को सार्थकता प्रदान की है :—

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की,
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की।

श्रद्धा भी यद्यपि एक मानव वृत्ति है तथापि जिस अंश में तीनों के समन्वय के लिए भावना आवश्यक है उस अंश में वह अलग रक्खी गई है। मनुष्य श्रद्धामय होकर ही तीनों का समन्वय कर सकता है और तीनों के समन्वय ही से आनन्द और कल्याण की प्राप्ति होती है। श्रद्धा की स्मिति-रेखा से ज्ञान, इच्छा और क्रिया के तीनों बिन्दु मिल जाते हैं :—

महा ज्योति रेखा सी बन कर
श्रद्धा की स्मिति दौड़ी उनमें,
वे सम्बद्ध हुए फिर सहसा
जाग उठी थी ज्वाला जिनमें।

*　　*　　*

स्वप्न स्वार्थ, जागरण भस्म हों
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे,
दिव्य अनाहत पर निनाद में
श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे

यही कामायनी का मूल सन्देश है। इसमें प्रसादजी शैव-दर्शन के समरसता वाले सिद्धान्त से प्रभावित हैं।

मानवता—प्रसादजी मानवता के पूरे उपासक थे। कबीर की भांति ही वे धर्म की संकुचित प्राचीरों से मानव जाति का विभाजन नहीं चाहते हैं। इन झगड़ों के लिए वे अपने प्रियतम को भी उपालम्भ देते हैं, देखिए :—

छिपि कै झगड़ा क्यों फैलायो ?

मन्दिर मसजिद गिरजा सब में खोजत सब भरमायो।

इसी मानवता के नाते वे युद्ध के भी विरोधी थे, अशोक की चिन्ता में युद्ध-विरोधिनी भावना के पूर्णरूपेण दर्शन होते हैं— 'सुख दे प्राणी को तज विजय-पराजय का कुढङ्ग।' वे 'जीओ और जीने दो' के पक्ष में थे। इड़ा भी जन-संहार के सम्बन्ध में क्या सुन्दर उपदेश देती है, देखिए :—

क्यों इतना आतङ्क ठहर जा ओ गर्वीले।
जीने दे सबको फिर तू भी सुख से जी ले॥

इस उपदेश को आजकल के योरुपीय राष्ट्र अपना सकें तो मानव समाज का कितना कल्याण हो।

वर्तमान सभ्यता पर व्यङ्ग्य—उन्होंने वर्तमान सभ्यता की

और स्वर्ण की विलासरूपी उपासना का घोर विरोध किया है। न्याय के आवरण में छिपी हुई स्वर्ण-लालसा का उद्‌घाटन कर वर्तमान शासन-प्रणाली पर भी उन्होंने अच्छा व्यङ्ग्य किया है। रानी कामना राज–मुकुट का त्याग कर अपनी प्रजा को मदिरा से सिंचे हुए चमकीले स्वर्ण वृक्ष की छाया से भागने का उपदेश देती है। प्रसादजी पूर्ण समता के उपासक हैं। ईश्वर को भी वे संसार से अलग नहीं देखना चाहतेः—

खेल लो नाथ विश्व का खेल
राजा बन कर अलग न बैठो, बनो नहीं अनमेल।

*　　　*　　　*

हम सब हैं हो चुके तुम्हारे, तुम भी अपने होकर प्यारे।
आओ, बैठो साथ हमारे मिल कर खेलो खेल॥

समताभाव में उन्होंने आर्यों और अनार्यों का भी भेद नहीं रक्खा है। जनमेजय के नाग-यज्ञ में नागों को यज्ञ-कुण्ड में डालने को उन्होंने अच्छी दृष्टि से नहीं देखा है और अन्त में व्यास और आस्तीक द्वारा दोनों जातियों की सन्धि कराई है।

यज्ञ और कर्म-काण्ड—प्रसादजी की मानवता मनुष्यों तक ही सीमित नहीं है वरन् उनका दयाभाव पशु-क्षेत्र में भी समान रूप से व्याप्त है। इसीलिए पशु-यज्ञों में पशु-बलि के विरोधी हैं। करुणालय में नर बलि के खिलाफ़ ज़ोरदार आवाज़ उठाई गई है। स्कन्दगुप्त में भी बलिदान का विरोध किया गया है। जनमेजय के नाग-यज्ञ में महर्षि वेदव्यासजी द्वारा यज्ञों की समाप्ति की

घोषणा कराई गई है। कामायनी में पशु-बलि के सम्बन्ध में ही श्रद्धा और मनु में मन-मुटाव दिखाया गया है। इस सम्बन्ध में भारतेन्दुजी तथा प्रसादजी का मत-साम्य था।

नियतिवाद—प्रसादजी का नियतिवाद उनके नाटकों में भी अपनी झलक दिखा जाता है। जनमेजय के नाग-यज्ञ में शुरू से अखीर तक नियति नटी के क्रूर-ताण्डव या उसकी कन्दुक-क्रीड़ा का उल्लेख होता है। वेदव्यासजी भी उसका प्रतिपादन करते हैं। उत्तङ्क, जरत्कारु आदि सभी नियतिवाद की दुहाई देते हैं। चन्द्रगुप्त में कर्मठ चाणक्य भी नियतिवाद के चक्र से नहीं बचे हैं, वे भी नियति सुन्दरी के भँवों में बल पड़ने की बात कहते हैं। यह चाणक्य का निजी व्यक्तित्व नहीं है वरन् उन पर प्रसादजी द्वारा लादा हुआ व्यक्तित्व है। इस प्रकार चाणक्य के दो व्यक्तित्व हो जाते हैं।

सामाजिक विचार—सामाजिक विषयों में भी उनके वचन बड़े उदार हैं। कङ्काल में वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में स्वामी कृष्ण शरण से वे कहलाते हैं—वर्ण-भेद सामाजिक जीवन का क्रियात्मक विभाग है—जिसकी कल्याण-बुद्धि से इसका आरम्भ हुआ, वह न रही, गुण कर्मानुसार वर्णों की स्थिति नष्ट होकर, आभिजात्य के अभिमान में वह परिणत हो गई।

प्रसादजी स्त्रियों के अधिकारों के पूर्ण पक्षपाती हैं। उनके नाटकों में स्त्रियों का पुरुषों के भाग्य-विधान में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान रहा है। स्वतन्त्र-प्रेम की अपेक्षा वे विवाह को अधिक श्रेयस्कर

समझते हैं। 'एक घूँट' में स्वतन्त्र प्रेम के प्रचारक आनन्द जी प्रेम लता के हाथ से शरबत का एक घूँट पी कर विवाह के बन्धन में बँध जाते हैं। वे दाम्पत्य सम्बन्ध को सहज ठुकरा देने वाली वस्तु नहीं मानते किन्तु पुरुष अपने उत्तरदायित्व को भूल जायँ, माँगी हुई शरण न दें, उनको अपने लाभ के लिए या अपनी कायरतावश दूसरों के हाथ बेच देने को तैयार हो जायँ तो ध्रुवस्वामिनी की भांति आपत्ति धर्म में स्त्रियाँ अपना पथ निश्चित कर सकती हैं। प्रसादजी पारिवारिक जीवन में सबके साथ हिल-मिल कर रहने और सम्मिलित परिवार के पोषक प्रतीत होते हैं। वे सुखी परिवार का एक चित्र अजातशत्रु में उपस्थित करते हैं—

बच्चे बच्चों से खेलें, हो स्नेह बढ़ा उनके मन में
कुल लक्ष्मी हो मुदित भरा हो मङ्गल उनके जीवन में।
बन्धुवर्ग हों सम्मानित, हों सेवक सुखी प्रणत-अनुचर
शान्तपूर्ण हो स्वामी का मन, तो स्पृहणीय न हो क्यों घर।

देश-भक्ति—देश-भक्ति प्रसादजी के हृदय में पर्याप्त मात्रा में थी किन्तु उसकी अभिव्यक्ति बड़ी कलापूर्ण रूप में हुई है। उन्होंने देश-गौरव के बड़े मनोहर गीत लिखे हैं। उन्होंने चन्द्रगुप्त नाटक में कार्नीलिया द्वारा बड़े सुन्दर शब्दों में भारत-स्तवन कराया है, देखिए:—

अरुण यह मधुमय देश हमारा
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
सरस तामरस गर्भ विभा पर, नाच रही तरु-शिखा मनोहर,

छिटका जीवन हरियाली पर, मङ्गल कुङ्कुम सारा।

प्रसादजी ने महाराणा का महत्व, शेरसिंह का शस्त्र-समर्पण आदि अनेकों देश-भक्ति-पूर्ण कविताएँ लिखी हैं। शेरसिंह के शस्त्र-समर्पण में हारे हुए सैनिक के आत्म-गौरव और जाति-गौरव का बड़ा सुन्दर चित्र खींचा है, देखिए :—

आज विजयी हो तुम
और हैं पराजित हम
तुमतो कहोगे, इतिहास भी कहेगा यही,
किन्तु यह विजय प्रशंसा भरी मनकी—
कहेगी शतद्रु शत संगरों की साक्षिणी,
सिक्ख थे सजीव
सत्व रक्षा में प्रबुद्ध थे।

प्रकृति–चित्रण—प्रकृति में मनुष्य की सी भावमयी चेतना चाहे हो या न हो किन्तु उसमें हमारे भावों को जाग्रत और उद्दीप्त करने की शक्ति पर्याप्त मात्रा में है। प्रकृति हमारी धातृ है। उसके जलवायु में हमारा शरीर पुष्ट हुआ है, उससे हम माँग नहीं सकते। मौन रहते हुए भी वह हमको सहचार का सुख देती है। प्रसादजी आस्तिक कवि थे। वे परमात्मा को प्रकृति में व्याप्त देखते थे। विश्वात्मा से अनुप्राणित होने के कारण प्रकृति उनके लिए विशेष अनुराग का विषय बन जाती है। प्रकृति में सौन्दर्य-सागर लहराता है, मनुष्य-हृदय का संकोच ही उसका आनन्द नहीं ले सकता है, देखिए:—

नील नभ में शोभित विस्तार।
प्रकृति है सुन्दर परम उदार॥
नर हृदय परिमित पूरित स्वार्थ।
बात जंचती कुछ नहीं यथार्थ॥

प्रकृति को वे परमात्मा की अभिव्यक्ति के रूप में देखते हैं। उसमें वे अपने प्रियतम की मुस्कराहट या करुणा का आभास पाते हैं, देखिए:—

तुम्हारा स्मिति हो निरखना,
वह देख सकता है चन्द्रिका को।
तुम्हारे हँसने की धुनि में नदियाँ,
निनाद करती ही जा रही हैं।

प्रसादजी ने प्रकृति के सौम्य और विकराल रूप दोनों का वर्णन किया है:—

पवन-ताड़ित नीर के तरलित तरंगों में हिले।
वंजु सौरभ मंजु युत कंज कैसे हैं खिले
या प्रशान्त ? में शोभते हैं प्रात के।
तारका युग शुभ्र है आलोक पूरण गात के॥

प्रकृति अपने सौम्य रूप में उद्दीपन बन कर संयोग श्रृङ्गार के लिए उचित वातावरण भी उपस्थित कर देती है, देखिए:—

सृष्टि हँसने लगी, आँखों में खिला अनुराग,
राग रंजित चन्द्रिका थी उड़ा सुमन पराग।

*   *   *   *

देवदारु निकुंज गह्वर सब सुधा में स्नात,
सब मनाते एक उत्सव जागरण की रात ॥

एक विकराल रूप भी देखिए:—

पँचभूत का भैरव मिश्रण,
शंपाओं के शकल-निपात।
उलका लेकर अमर शक्तियाँ,
खोज रहीं ज्यों खोया प्रात।
उधर गरजतीं सिंधु लहरियाँ,
कुटिल बाल के जालों सी,
चली आ रहीं फेन उगलती,
फन फैलाये व्यालों सी।
धँसती धरा, धधकती ज्वाला,
ज्वालामुखियों के निश्वास।

प्रसादजी में प्रकृति के मानवीकरण और उसमें मानवी-भावों के आरोप की जो छायावाद की मूल प्रकृति है, कमी नहीं है, देखिए:—

सिन्धु-सेज पर धरा वधू अब,
तनिक संकुचित बैठी सी;
प्रलय निशा की हलचल स्मृति में,
मान किये सी ऐंठी सी।

सिन्धु-सेज पर धरा-वधू को सुलाकर प्रसादजी ने विशालता में सौन्दर्य की भावना उत्पन्न कर दी है। साथ ही जिस प्रसंग

में यह वर्णन आया है। उस प्रसंग की भावी घटनाओं की सूचना भी व्यञ्जित हो जाती है। वधू शब्द से एक भावी वधू (श्रद्धा) के आने की तथा पीछे से उसके मान करने की ओर व्यङ्ग्यात्मक संकेत है। संकुचित और ऐंठी शब्दों में अभिधार्थ और लक्ष्यार्थ दोनों का बड़ा सुन्दर मिलान हो गया है। पृथ्वी के पक्ष में तो मुख्यार्थ ही लगता है क्योंकि जो वस्तुएँ पानी से निकलती हैं वे सिकुड़ी और ऐंठी सी हो जाती हैं और वधू के सम्बन्ध में लक्ष्यार्थ लागू होगा। मानवीकरण का एक और उदाहरण लीजिए:—

अम्बर पनघट में डुबो रही,
तारा घट ऊषा नागरी।

*   *   *   *

लो कलिका भी भर लाई,
मधु मुकुल नवल रस गागरी॥

पलायनवाद—प्रसाद में छायावाद के शेष गुण सभी हैं। उन में छायावाद का पलायनवाद अर्थात् संसार के संघर्ष और कोलाहल को न सहकर किसी सौन्दर्य लोक के मधु सौरभ में दुनियां को भूल जाने की प्रवृत्ति है। उसका उदाहरण उनकी नीचे की प्रसिद्ध कविता में देखिए:—

ले चल वहाँ भुलावा देकर,
मेरे नाविक ! धीरे धीरे।
जिस निर्जन में सागर लहरी,

अम्बर के कानों में गहरी।
निच्छल प्रेम-कथा कहती हो,
तज कोलाहल की अवनी रे॥

इस पलायनवाद के अन्तर्गत प्रसादजी का विस्मृतिवाद है। उसको भूलने के लिए वे चिर विस्मृति का आह्वान करते हैं। कामायनी के मनु भी विस्मृति चाहते हैं:—

विस्मृति आ, अवसाद घेरले,
नीरवते बस चुप करदे।
चेतनता चल, जा, जड़ता से,
आज शून्य मेरा भर दे॥

किन्तु यह मनोदशा स्थायी नहीं है, प्रसाद का यह पलायनवाद तनिक विश्राम के लिए ही है, वह उनका अन्तिम लक्ष्य नहीं है। कामायनी में श्रद्धा की उक्तियाँ पलायन के विरुद्ध हैं। प्रसाद की कविता में, दुनिया के कलरव में कूद पड़ने की सी प्रवृत्ति है। देखिए:—

अब जागो जीवन के प्रभात ?
रजनी की लाज समटो तो,
कलरव से उठकर भैंटो तो।
अरुणाञ्चल में चल रही बात।

प्रसादजी के नाटक—वर्तमान के दीनतामय दुःखवाद से बचने के लिए भिन्न-भिन्न कवियों ने भिन्न-भिन्न साधनों का आश्रय लिया है। महादेवी ने दुख को ही सुख मान लिया है।

पंत ने दुख-सुख का परिवर्तन चाहा है। प्रसादजी ने भी ममता की हानि कराकर दुख-सुख का मेल कराया है। कहीं विस्मृति का आह्वान किया है। किसी-किसी ने, जैसे नवीन ने दुख से बचने के लिए महानाश को निमंत्रण दिया है। दुःख का संतुलन करने के लिए गौरवमय अतीत का आश्रय लेना भी एक उत्तम साधन है। प्रसादजी ने इस साधन का आश्रय अपने नाटकों में लिया है। ऐतिहासिकता उनके नाटकों की विशेषता है। प्रसादजी ने नाटकों में अतीत को लिया और उपन्यासों में वर्तमान को। केवल कामना को जो कि एक प्रकार से रूपक है और एक घूंट को छोड़कर उनके प्राय: सभी नाटक ऐतिहासिक हैं। जनमेजय का नाग-यज्ञ पौराणिक है।

अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त बौद्धकालीन इतिहास से सम्बन्ध रखते हैं। अजातशत्रु में बुद्ध भगवान् स्वयं वर्तमान हैं। चन्द्रगुप्त में बुद्ध-धर्म की चरम उन्नति है और स्कन्दगुप्त में हमको बौद्ध धर्म का ह्रास और ब्राह्मण-धर्म का पुनरुत्थान दिखाई देता है। उस समय बौद्ध धर्म तंत्रवाद में परिणत हो गया था। इन नाटकों में भारतीय संस्कृति के श्रेष्ठता स्थापित की गई है क्योंकि वह ऐसी वस्तु है कि जिस पर हम अपने ह्रास-काल में गर्व कर कुछ हीनता भाव को दूर कर सकते हैं। चन्द्रगुप्त में तो भारतीय और यूनानी सभ्यता का स्पष्ट रूप से संतुलन हुआ है। उसमें चन्द्रगुप्त और सिकन्दर की चोट नहीं है वरन् चाणक्य और अरस्तू की है। ऐतिहासिक नाटक में कम से कम यह लाभ रहता है कि जो बात

इन में बतलाई जाती है वह अधिकाँश में सत्य होती है और घटित हो जाने के कारण सम्भव ही है।

प्रसादजी के नाटकों में अन्तर्द्वन्द्वों की दूसरी विशेषता है। भीतरी और बाहरी दोनों प्रकार के संघर्ष के कारण कौतूहल भी बढ़ गया है और पात्रों में चारित्रिक सजीवता भी आगई है। उनके पात्र देवता, मनुष्य और राक्षस तीनों प्रकार के हैं। मनुष्यों में यह संघर्ष ज्यादह है। प्रसाद के सभी प्रमुख पात्र दार्शनिक हैं। उनमें महत्वाकांक्षा कर्तव्य-प्रेरित है और त्याग की मात्रा भी अधिक है। स्कन्दगुप्त में त्याग की पराकाष्ठा है। प्रसादजी के अधिकाँश पात्र नियतिवाद में विश्वास करते हैं। वे नियति के हाथ की कठपुतली होते हुए भी कर्तव्यवादी हैं।

प्रसाद के नाटकों में अभिनेयत्व की अपेक्षा साहित्यिकता और कवित्व अधिक हैं। वे जन-साधारण की वस्तु नहीं हैं। प्रसादजी के नाटक रङ्गमञ्च के अयोग्य नहीं हैं किन्तु वर्तमान रङ्गमञ्च उनके अयोग्य है। उसको ऊँचा उठना होगा।

प्रसाद के नाटकों में पुरानी प्रथा का पालन बहुत कम रह गया है। नान्दी और सूत्रधार तो शायद उन के सज्जन नाटक में ही थे, उनका तो अभाव हो गया है किन्तु एक प्रकार के भरतवाक्य के रूप में उनके नाटकों में जैसे कामना, विशाख, जनमेजय के नाग-यज्ञ आदि में ईश्वर-प्रार्थना आई है। वार्तालाप का माध्यम गद्य ही है। किन्तु बीच-बीच में बड़े सुन्दर गीत आये हैं। दुखान्त न होने का नियम भी शब्दशः पालन नहीं हुआ है, स्टेज पर

भुक्ति नहीं जानता मैं, भक्ति रहे काफ़ी है।
सुधाधर की कला में अंशु यदि बन कर रहूँ
तो अधिक आनन्द है।
अथवा यदि होकर चकोर कुमुद नैश गन्ध।
पीता रहूँ सुधा इन्दु से बरसती हुई
तो सुख मुझे अधिक होगा।
इसमें सन्देह नहीं,
आनन्द बन जाना हेय है,
श्रेयस्कर आनन्द पाना है।

महादेवीजी यद्यपि द्वैत और अद्वैत दोनों के ही पक्ष में हैं—'मैं तुमसे हूँ एक, एक है जैसे रश्मि प्रकाश। मैं तुम से हूँ भिन्न भिन्न ज्यों घन से तड़ित विलास'। फिर भी उनकी नीचे की पंक्तियों में अद्वैत भावना अधिक झलकती है।

वीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ।
दूर तुमसे हूँ अखण्ड सुहागिनी भी हूँ।
तार भी आघात भी झङ्कार की गति भी,
पात्र भी, मधु भी, मधुप भी, मधुर-विस्मृति भी,
अधर भी हूँ और स्मिति की चाँदनी भी हूँ।

प्रकृति सम्बन्धी रहस्यवाद के उदाहरण हमको पन्तजी की कविता में अच्छे मिलते हैं। जयशंकरप्रसाद में भी इसकी कमी नहीं है। पन्तजी प्रकृति के सभी रूपों में परम सत्ता की झलक देखते हैं।

ओ चिन्ता की पहली रेखा
अरे विश्व वन की व्याली
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण
प्रथम कम्प सी मतवाली,
हे अभाव की चपल बालिके
री ललाट की खल लेखा
*   *   *
अरी व्याध की सूत्र धारिणी,

एक-एक शब्द के चित्र भी प्रसादजी ने बड़ी सफलता के साथ उपस्थित किये हैं। 'ओ बिजली की दिवा रात्रि! तेरा नर्तन' बिजली का ऐसा शब्द-चित्र कठिनाई से ही मिल सकता है। उसमें दिन और रात का क्षण-क्षण विकल्प रहता है और नृत्य की सी गति। प्रसादजी की उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं में कल्पना की ऊँची से ऊँची उड़ान मिलती है जिनमें चाहे थोड़ी सी अतिशयता हो किन्तु उनके द्वारा कवि के हृदय का उत्साह और वस्तु की उत्तमता पूर्णतया व्यक्त हो जाती है। प्रसादजी ने चार छोटी-छोटी पंक्तियों में जितना कह दिया है उतना लोग बड़े लम्बे वर्णनों में भी नहीं कह पाते। देखिए:—

चञ्चला स्नान कर आवे
चन्द्रिका पर्व में जैसी
उस पावन तन की शोभा
आलोक मधुर सी ऐसी

प्रसाद ने विजली का चांदनी में स्नान करा शरीर की उज्ज्वलता के साथ चापल्य को मिला दिया है। पर्व शब्द में पवित्रता और बाहुल्य की व्यञ्जना होती है। फिर सौन्दर्य की पवित्रता को उन्होंने पावन शब्द से भी घोषित कर दिया। अन्त में आलोक मधुर में तेज और माधुर्य दोनों विरल गुणों को मिला दिया है क्योंकि प्रकाश भयङ्कर भी हो सकता है।

सौंदर्य के वर्णन में प्रसाद ने बड़ी पटुता दिखाई है। अतिशयोक्तियाँ सब कोई लिख सकता है, किन्तु उनमें वास्तविक चमत्कार विरले कुशल कवि ही ला सकते हैं। नीचे के छन्द में अतिशयोक्ति अवश्य है किन्तु नज़र लगने पर राई-नौन उतार कर न्यौछावर कर देने की प्रथा का सहारा लेकर उसको चमत्कारिक बना दिया गया है। साथ ही तुलना द्वारा उसकी महत्ता भी बढ़ा दी गई है, देखिए:—

लावण्य शैल राई सा
जिस पर वारी बलिहारी
उस कमनीयता कला की
सुखमा थी प्यारी-प्यारी

कमनीयता को मूर्तिमान कर उसमें कला जोड़कर शोभा और शृङ्गार दोनों का द्योतन कर दिया गया है।

प्रसादजी ने परम्परागत उपमानों का प्रयोग किया है किन्तु उनको सार्थक बना कर उसमें नया जीवन भर दिया है। कानों

की मिसाल कमल के पत्तों से तो बहुत से लोग देते हैं किन्तु उस उपमान द्वारा उन्होंने प्रेमी की करुण कथा उन कानों पर न ठहरने की बात का काव्यमय कारण भी दे दिया है।

मुख-कमल समीप सजे थे
दो किसलय से पुरइन के
जल विन्दु सदृश ठहरे कब
उन कानों, से दुख किनके

प्रसादजी ने कहीं-कहीं परम्पराभुक्त उपमानों की रूपकातिशयोक्तियों द्वारा आश्चर्य की भावना को व्यक्त किया है। कवि लोग प्रायः उपमानों की उपयुक्तता दिखला कर स्वाभाविकता का चमत्कार दिखलाते हैं। प्रसादजी ने अनुपयुक्तता दिखला कर औद्भुत्य की भावना उत्पन्न की है। देखिए:—

विद्रुम सीपी सम्पुट में
मोती के दाने कैसे ?
है हंस न, शुक यह, फिर क्यों
चुगने को मुक्ता ऐसे ?

मोती प्रायः सीप में होता है किन्तु यहाँ मूँगे की डिब्बी में है। दाँतों की उपमा मोती से देते हैं और ओठों की उपमा मूँगे से, कवि को इतने ही औद्भुत्य से सन्तोष नहीं होता। मोती प्रायः हंस चुगा करता है किन्तु यहाँ पर शुक (तोता) ही मोती चुगता है। नाक की उपमा तोते से दी जाती है।

मैथिलीशरण जी ने तद्गुण अलङ्कार के सहारे मोती को

अनार का दाना बना स्वाभाविकता उत्पन्न कर दी है।

हैं तो ये सब फ़िजूल की बातें किन्तु फ़िजूल की बातों में भी कम और अधिक सौन्दर्य तथा कवि की प्रतिभा का प्रकाश होता है। यही यहाँ पर दिखलाया गया है।

प्रसाद में असंगति, विभावना आदि के चमत्कारों की भी कमी नहीं है। असंगति का एक उदाहरण लीजिए:—

पीली मधु मदिरा किसने, थी बन्द हमारी पलकें

प्रसाद ने अपनी अप्रस्तुत योजना में छायावाद की शैली को पूर्णरूपेण उदाहृत कर दिया है। उनके उपमानों में नये ढंग का भी पूर्ण चमत्कार है । प्रभाव-साम्य के आधार पर मूर्त वस्तुओं की अमूर्त वस्तुओं से उपमा के उदाहरण लीजिए :—

(१) बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल

एक में दूसरे का उलझा रहना तर्कजाल से व्यञ्जित होता है, साथ ही जाल शब्द में फाँसने की व्यञ्जना है जो अलकों और तर्क दोनों पर लागू होती है।

(२) प्रसादजी कामायनी में जल-संघात के लिए कहते हैं :—

बढ़ने लगा विलास वासना-सा
वह नीरव जल-संघात

यहां विलास-वासना की उपमा इसलिए और भी सार्थक हो जाती है कि यह जल-प्लावन विलास का ही फल था।

विशेषण—विपर्यय के उदाहरण भी प्रसाद में पर्याप्त मिलते हैं—

(१) हिंसक हुँकारों से नत मस्तक आज हुआ कलिंग।

(२) जग की सजल कालिमा रजनी में मुख चन्द्र दिखला जाओ॥

(३) तुम्हारी आंखों का बचपन खेलता जब अल्हड़ खेल।

(४) यह दुर्बल दीनता रहे उलझी चाहे फिर ठुकराओ॥

पहले में हिंसक वास्तव में हुँकारों का विशेषण नहीं है। वरन् सैनिकों का विशेषण है, हुँकारों से लगा दिया है।

इसी प्रकार नम्बर (२) में सजल कालिमा का विशेषण नहीं वरन् रात्रि या जगत् का विशेषण है, कालिमा में लगा दिया गया है (३) अल्हड़ खेल में अल्हड़ खेल का विशेषण नहीं वरन् बचपन का विशेषण है। (४) दुर्बल दीनता का विशेषण नहीं वरन् उन पुरुषों का जो दीन होते हैं—

मानवीकरण—क—हँस लें भय शोक या रण,
हँस ले काला पट ओढ़ मरण।
ख—मनोवृत्तियां खग-कुल-सी थीं सो रहीं,
अन्तःकरण नवीन मनोहर नीड़ में,
ग—अम्बर पनघट में डुबो रही,
ताराघट ऊषा नागरी॥

भाषा की लाक्षणिकता—लाक्षणिक प्रयोग तो सदा से होते रहे हैं, हमारे मुहावरों में लक्षणा का बाहुल्य रहता है और वे भाषा के सौन्दर्य को बढ़ाते रहे हैं किन्तु छायावाद में भाषा की लाक्षणिक वक्रता और बढ़ गई थी। प्रकृति का मानवीकरण भी लाक्षणिकता के आधार पर होता है। लाक्षणिक प्रयोगों

में एक विशेष सजीवता और मूर्त्तिमत्ता आ जाती है, प्रसादजी की भाषा में लाक्षणिक प्रयोगों का बाहुल्य सा रहता है। 'कलरव से उठ कर भेंटो तो', 'छाती लड़ती हो भरी आग' 'छल में विलीन बल' आदि अच्छे लाक्षणिक प्रयोग हैं। कहीं-कहीं लाक्षणिक अर्थ और मुख्यार्थ को मिलाकर प्रसादजी ने बड़ा चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। देखिए:—

वन विषम ध्वान्त,
सिर चढ़ी रही, पाया न हृदय।

सिर चढ़ी रही इड़ा अर्थात् बुद्धि के लिए कहा गया है। बुद्धि का स्थान मस्तिष्क है, इसलिए यहाँ पर अभिधार्थ और लक्ष्यार्थ दोनों ही सार्थक हो जाते हैं।

प्रसाद ने प्रतीकों और रूपकों का भी प्रचुरता से प्रयोग किया है। उन्होंने शुष्कता के लिए 'वालू की बेला', मन के लिए 'सागर', हृदय के लिए 'आकाश' जैसे प्रतीकों का प्रयोग किया है। 'काँटों ने पहने मोती' आदि सुन्दर रूपक लाक्षणिकता के आधार पर खड़े हुए हैं। 'कांटों ने पहने मोती' का अर्थ होगा कि शुष्क और नीरस लोगों को भी दया आ गई। इस प्रकार प्रसादजी ने भाषा को नये-नये उपकरणों द्वारा सजीव और शक्तिशाली बना दिया है। प्रसाद के काव्य में छायावाद की सभी प्रवृत्तियाँ मूर्त्तिमान् हो गई हैं।

: १२ :

हिन्दी-काव्य की वर्तमान स्थिति

पांच मूल प्रवृत्तियां—आजकल की हिन्दी कविता में पाँच मूल प्रवृत्तियाँ हैं—छायावाद, रहस्यवाद, प्रेमवाद, गान्धीवाद और मार्क्सवाद। पहली तीन प्रवृत्तियों का सम्बन्ध वैयक्तिक भावुकता से है और शेष का समाज से। यद्यपि ये तीनों प्रवृत्तियाँ एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं तथापि छायावाद और रहस्यवाद गान्धीवाद से अधिक मेल खाते हैं और प्रेमवाद मार्क्सवाद से। यह उग्र प्रेमवाद सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह के रूप में ही आया है। तभी इसका मार्क्सवाद से कुछ अधिक सम्बन्ध जुड़ सका है। छायावाद और रहस्यवाद के कवियों में प्रसादजी के अतिरिक्त निराला, पन्त, महादेवी वर्मा प्रभृति प्रमुख हैं। छायावाद की विशेषताओं का उल्लेख प्रसादजी के सम्बन्ध में हो चुका है।

छायावाद की विषयगत विशेषताएँ भी हैं और शैलीगत भी। इतिवृत्तात्मकता में सीमित न रह कर वस्तु की भौतिक सीमाओं से ऊपर उठ कर उसमें मानवी भावों की छाया देखना, यही छायावाद की विषयगत विशेषता है। शैली की विशेषताओं में भाषा की लाक्षणिकता, प्रतीकों का प्रयोग, मूर्त के अप्रस्तुत विधान में अमूर्त को स्थान देना, उपमाओं में सादृश्य की अपेक्षा प्रभाव-साम्य को कुछ अधिक महत्व देना, मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय आदि पश्चिमी अलङ्कारों की

योजना, आदि बातें प्रसादजी के प्रसङ्ग में हम बतला चुके हैं। छायावाद के उदाहरण—छायावाद के यहाँ पर तीन उदाहरण और दे देना पर्याप्त होगा—

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह संध्या सुन्दरी परी सी
धीरे धीरे धीरे।

* *

सिर्फ़ एक अव्यक्त शब्द सा चुप, चुप, चुप
है गूँज रहा सब कहीं—
व्योममण्डल में—जगती तल में—

महादेवीजी की वसन्त-रजनी भी इसी प्रकार की है, देखिए—

तारक नव वेणी बन्धन
शीशफूल कर शशि का नूतन
रश्मिवलय सित घन अवगुंठन
मुक्ताहल अभिराम बिछा दे चितवन से अपने
पुलकती आ वसन्त रजनी।

पन्तजी की वीचि-विलास शीर्षक कविता में छायावाद की विषयगत और शैलीगत दोनों ही प्रकार की विशेषताएँ हैं, देखिए-

सजल-कल्पना-सी साकार
पुनः पुनः प्रिय, पुनः नवीन;

* * *

तुम इच्छाओं-सी असमान
छोड़ चिन्ह उर में गतिवान
होजाती हो अन्तर्धान
मुग्धा की सी मृदु-मुसकान
खिलते ही लज्जा सी म्लान।

रहस्यवाद—जहाँ हम छायावाद में कटी-छटी सीमाओं से ऊपर जाकर प्रकृति में मानवी भावों के आरोप से सन्तुष्ट हो जाते हैं वहाँ रहस्यवाद में हम अपना निजी भावात्मक सम्बन्ध परम सत्ता से स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। दर्शनशास्त्र का ब्रह्म या ईश्वर तर्क का विषय न बन कर भावना का, चाहे वह चन्द्र-चकोर की सी द्वैतवादी हो और चाहे समुद्र में बूँद के समान समा जाने की अद्वैतवादी हो, विषय बन जाता है और असीम के साथ ससीम के मिलन और विरह के आनन्द की 'गूँगे के गुड़' जैसी अनिर्वचनीय रहस्यमयी भावना उत्पन्न हो जाती है वहाँ रहस्यवाद का क्षेत्र उपस्थित हो जाता है। कबीर आदि के प्राचीन रहस्यवाद और आजकल के रहस्यवाद में यही अन्तर है कि प्राचीन रहस्यवाद साधनात्मक और अनुभूति-प्रधान था किन्तु आजकल का रहस्यवाद साधना की उपेक्षा करता है और अनुभूति के स्थान में कल्पना के सहारे मिलन और विरह के सुख-दुख का वर्णन करता है। आधुनिक रहस्य-वाद के भी दो-तीन उदाहरण दे देना अनुपयुक्त न होगा।

रहस्यवाद के उदाहरण—द्वैत-भावना-प्रधान रहस्यवाद निरालाजी के पंचवटी-प्रसंग में लक्ष्मणजी के संवाद से व्यक्त होता है। देखिए:—

मृत्यु भी दिखाई गई है। अजातशत्रु में बिम्बसार अन्त में मृत्यु की सी अवस्था में दिखाया गया है। किन्तु उस समय उसकी सब मनोकामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। उसका पुत्र अजातशत्रु उससे क्षमा माँग लेता है। बुद्धदेव भी वहाँ उपस्थित हो जाते हैं। भारतीय आदर्श का शब्दों में नहीं तो आत्मा में अवश्य पालन हो जाता है।

प्रसादजी की कला—प्रसाद कवि के साथ पण्डित भी थे। उनके काव्य में पाण्डित्य की झलक है। गद्य और पद्य पर उन का समान अधिकार था। वे अपनी भाषा में पर्याप्त चित्रमयता ला सके थे, मूर्त और अमूर्त दोनों ही पदार्थ उनकी कलम के जादू से सजीव हो उठते हैं। मानव-सौंदर्य का, विशेष कर पौरुषमय सौंदर्य का ऐसा सुन्दर चित्रण मुश्किल से ही मिलेगा—

अवयव की दृढ़ मांस-पेशियाँ
ऊर्जस्वित था वीर्य अपार
स्फीत शिरायें स्वस्थ रक्त का
होता था जिसमें सञ्चार
चिन्ता-कातर बदन हो रहा,
पौरुष जिस में ओत-प्रोत
उधर उपेक्षामय यौवन का,
बहता भीतर मधुमय स्रोत

इसी प्रकार चिन्ता जैसी अमूर्त वस्तु का भी वे चित्रण बड़ी सफलता से कर सके थे यहाँ पर चित्रकार को कवि से हार माननी पड़ती है, इसमें उपयुक्त विशेषणों की छटा दर्शनीय है:—

एक ही तो असीम उल्लास,
विश्व में पाता विविधाभास,
तरल जलनिधि में हरित विलास
शान्त अम्बर में नील विकास,
वहाँ उर-उर में प्रेमोच्छ्वास
काव्य में रस कुसुमों में वास।

प्रेमवाद के उदाहरण हमको नरेन्द्र, अञ्चल आदि में मिलते हैं। कुछ आलोचकों का कहना है कि रहस्यवाद और छायावाद में वैयक्तिक-प्रेम का उन्नयन अर्थात् ऊँचा उठाना है। इस अपवाद को निरर्थक करने के लिए कुछ युवक कवि प्रेम और वासना का निरावरण वर्णन करते हैं।

गांधीवाद का आधार लेकर सियारामशरण गुप्त, सोहनलाल द्विवेदी प्रभृति कवियों ने ग्रामीण सादा जीवन, अहिंसावाद, वर्गों में समझौते और शोषकों के हृदय-परिवर्तन की आवाज़ उठाई है। सियारामशरणजी की 'उन्मुक्त' और 'बापू' नाम की रचनाएँ इसी भावना से प्रेरित हैं। प्रसाद और मैथिलीशरणजी पर भी गांधीवाद का प्रभाव है। गुप्तजी का 'अनघ' गांधीवाद के जीवन-दर्शन से अनुप्राणित है। गांधीवाद की अहिंसा की सुन्दर झांकी उन्मुक्त से उद्धृत सियारामशरणजी के नीचे के शब्दों में मिलती है :—

हिंसानल से शान्त नहीं होता हिंसानल,
जो सबका है, वही हमारा भी है मंगल।
मिला हमें चिर सत्य आज यह नूतन होकर,
हिंसा का है एक अहिंसा ही प्रत्युत्तर।

प्रगतिवाद—यद्यपि गांधीवाद ने भी मानवता के नाते किसान-मज़दूर का पक्ष लिया है तथापि प्रगतिवाद ने शोषितों के पक्ष को विशेष रूप से अपनाया है। गांधीवाद और प्रगतिवाद में इस सम्बन्ध में इतना ही अन्तर है कि गांधीवाद शोषक का हृदय-परिवर्तन करा कर शोषित और शोषक वर्ग का समझौता चाहता है। प्रगतिवाद वर्ग-संघर्ष करा कर शोषकों को मिटा कर भेद को दूर करना चाहता है। प्रगतिवादी लेखक काव्य को जीवन से उदासीन न रख कलाकार को सक्रिय रूप से समाज को बदलने में सहायक बनाना चाहते हैं। प्रगतिवाद के लिए यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि वह अपनी विचारधारा के लिए किसी देश-विशेष का अनुयायी बने किन्तु अधिकांश प्रगतिवादी रूस से प्रेरणा ग्रहण करते हैं। देखिए :—

जहाँ लहलहाती खेती पर कारिन्दे मँडराते ना,
सजी रास की ठेरी पर लालाजी घात लगाते ना
व्याज चुकाते ही न जवानी गई कसील जवानों की
लाल रूस का दुश्मन साथी दुश्मन सब इन्सानों का
दुश्मन है सब मज़दूरों का, दुश्मन सभी किसानों का। —नरेन्द्र

मेरी समझ में किसी दूसरे देश की अपेक्षा किसी भी विशेष का सहारा लेना अधिक श्रेयस्कर है।

प्रगतिवाद ने आदर्शवाद की अपेक्षा वस्तुवाद के नग्न शब्द को अधिक अपनाया है।

पिछले दिनों में पंतजी जैसे छायावादी कवि भी प्रगतिवादी स्वर में लिखने लगे हैं। प्रगतिवाद के प्रभाव में बङ्गाल के अकाल पर कुछ सुन्दर कविताएँ निकली हैं।

इन वादों के अतिरिक्त दुःखवाद आजकल की कविता में व्यापक रूप से रहा है (गगन के उर में भी घाव,···अनिल भी भरता ठण्डी आह), किन्तु उस दुःख में सुख के दर्शन करने के भी प्रयत्न हो रहे हैं। साथ ही मानव-गौरव और आशावाद की पुकार हो रही है। मनुष्य अब राजा तथा महाराजा होने के नाते नहीं वरन् अपनी गरीबी के नाते भी स्तुत्य और वन्द्य बन रहा है। 'सुन्दर है विहँग सुमन सुन्दर, मानव तुम सब से सुन्दरतम', मनुष्य अब पृथ्वी की नश्वरता से लज्जित नहीं होता वरन् उस पर वह गर्व करता है।

इस धरती के रोम रोम में
भरी सहज सुन्दरता,
इसके रज को छू आकाश
बन मधुर विनम्र निखरता।

मनुष्य को अपनी विफलताओं की कटु चेतना है किन्तु वह उनसे निराश नहीं होता वरन् वह गुप्तजी के नहुष के शब्दों में ऊँचे उठने के लिए प्रयत्नशील रहता है; देखिए :—

चलना मुझे है, बस अन्त तक चलना
गिरना ही मुख्य नहीं, मुख्य है सँभलना
फिर भी उठूँगा और बढ़के रहूँगा मैं,
नर हूँ, पुरुष हूँ, बढ़के रहूँगा मैं।